UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180785

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H82 | T83T Accession No. G·H· 923
Author त्रिपाठी, रामनरेश |
Title जयन्त - | 1954
This book should be returned on or before the date last marked below.

जयन्त

[नाटक]

लेखक
रामनरेश त्रिपाठी

प्रकाशक
हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग

दूसरा संस्करण] १९५४ [मूल्य दो रुपये

प्रकाशक
हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग

दूसरा संस्करण : १९५४ : २०००

मुद्रक—श्री प्रेमचन्द मेहरा,
न्यू ईरा प्रेस, इलाहाबाद

भूमिका

दिसम्बर १९३३ के तीसरे सप्ताह से लेकर जनवरी १९३४ के दूसरे सप्ताह तक मैंने दक्षिण भारत और पश्चिम भारत के भिन्न-भिन्न रमणीय स्थानों में साहित्यिक भ्रमण किया था। इस भ्रमण में मुझे शिक्षित जनता से आमतौर पर यह शिकायत सुनने को मिली कि हिन्दी में मौलिक नाटकों का बड़ा अभाव है। कितने ही मित्रों और परिचितों ने भी मुझसे अनुरोध किया कि मैं क्यों न एक नाटक लिख दूँ।

नाटक लिखना सहज काम तो नहीं; वाह्य और अन्तर्जगत् दोनों का जिसे अच्छा अनुभव हो, और वह अनुभव को प्रकट करने की कला में भी निपुण हो, वही नाटक लिखने में सफल सकता है। मुझमें ये विशेषताएँ कहाँ? पर घर में बैठे रहकर दूसरे बटोहियों का मुँह ताकने की अपेक्षा तो स्वयं राह लगना अच्छा है, इस विचार से मैं इस नाटक के लिखने में प्रवृत्त हुआ हूँ। यह प्रयाग में ता० ११-१-३४ को प्रारम्भ हुआ और १६-१-३४ को समाप्त। इसके साथ एक कौतूहल-वर्द्धक यादगार भी है; और वह यह है कि इसका अंतिम शब्द लिखकर जैसे ही मैंने कलम रक्खी, वैसे ही उसी क्षण बिहारवाला बड़ा भूकंप आया था और मैं भागकर घर के बाहर निकल गया था।

इसका प्लाट कैसा है? भाषा कैसी है? भावों को व्यक्त करने की मेरी शक्ति कैसी है? तथा नाटक का आदर्श कैसा है? यह सब बताना मेरे हिस्से का काम नहीं। मैं खुद जानना चाहता हूँ कि मैंने इस मार्ग का यह पहला काम कैसा किया?

बसंत पंचमी
१९९०

रामनरेश त्रिपाठी

दूसरे संस्करण की भूमिका

प्रकाशित होने के थोड़े ही दिनों बाद यह नाटक बहुत लोकप्रिय हो गया था। यह कई स्थानों में सफलता-पूर्वक खेला भी गया था और मुझे प्रशंसा के पात्र भी मिले थे। सन् १९४१ में साहित्य-क्षेत्र से मैं अलग हो गया था, इससे यह फिर प्रकाशित नहीं हो सका; पर इसकी माँग बराबर आती रही। यह देखकर इसे साधारण परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ फिर प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, यह अपनी कमी की पूर्ति करेगा।

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग
१५, अगस्त, १९५४

रामनरेश त्रिपाठी

पुरुष पात्र

१	हरिबल्लभ	...	सोनपुर का एक गृहस्थ
२	जयन्त	...	हरिबल्लभ का पुत्र
३	मनोहरलाल	...	सोनपुर का नगर-सेठ
४	अशोक	...	मनोहरलाल का पुत्र
५	पंडित देवदत्त	...	एक शिक्षित गृहस्थ
६	रग्घू	...	मनोहरलाल के सिपाही
७	बिसेसर		

राजा, मंत्री, सेनापति, सिपाही, सरदार, विद्यार्थी आदि।

स्त्री पात्र

१	बसंती	...	हरिबल्लभ की स्त्री
२	कुसुम	...	हरिबल्लभ की कन्या
३	कल्याणी	...	मनोहरलाल की स्त्री
४	गौरी	...	बसंती की एक पड़ोसिन कन्या
५	पद्मावती	...	राजकुमारी
६	मृदुला	...	कुसुम का दूसरा नाम
७	कमला	...	पंडित देवदत्त की स्त्री
८	श्यामा	...	कल्याणी की दासी

आचार्या, छात्राएँ, दर्शक, दर्शिका आदि।

जयन्त

पहला अङ्क

पहला दृश्य

समय—दोपहर

स्थान—सोनपुर की एक गली में एक टूटा-फूटा मकान।

(आँगन में एक टूटी चारपाई पर बसंती (आयु ४० वर्ष) अत्यंत दुःखपूर्ण अवस्था में पड़ी है। पास ही कुसुम (कन्या—आयु १२ वर्ष) और जयंत (पुत्र—आयु ९ वर्ष) बैठे हैं। घर में चारोंओर दरिद्रता का विकराल दृश्य है। सबके कपड़े फटे हुए हैं। जयंत कमर में एक फटी हुई लँगोटी पहने है।)

कुसुम—माँ, जयंत को क्या खाने को दूँ? यह कई दिनों से भूखा है।

बसन्ती—(गहरी साँस लेकर) हाय! मैं क्या बताऊँ! मेरे फूल ऐसे बच्चे·····(छाती पर हाथ मारकर मूर्च्छित हो जाती है।)

कुसुम—माँ, कहीं कुछ पैसे रक्खे हों तो बता, मैं उन्हें लेकर बाजार से चने खरीद लाऊँ। मैं भी बहुत भूखी हूँ माँ—और तूने तो पाँच-छः दिनों से अन्न का एक किनका भी मुँह के अन्दर जाने नहीं दिया। तुम भी कुछ खा ले माँ!—और एक बार तू जयन्त की ओर देख तो ले।

(बसन्ती जयंत की ओर देखकर, उसे खींचकर गोद में चिपका लेती है और फिर आँखें बंद कर लेती है।)

बसन्ती—(कुछ देर बाद) बेटी ! पैसे कहाँ रक्खे हैं ? तुम्हारे पिता को मरे आज पंद्रह दिन हुए। गहने-गट्ठी पहले ही बेंचकर खा चुके थे। बरतन बेंचकर उनका क्रिया-कर्म किया। कपड़े केवल शरीर ढकने भर ही को हैं। बेटी ! मैं क्या दूँ ? हाय ! मेरे फूल ऐसे बच्चे बिना पानी के मुरझा रहे हैं !

(रोती है।)

कुसुम—पिताजी ने एक बार मेरे लिए चूड़ियाँ खरीद दी थीं। उन्हें दो पैसे में बेंच आऊँ ? माँ, जयन्त का उदास मुँह मुझसे नहीं देखा जाता।

(जयन्त माँ की गोद में हिचकियाँ लेकर रोता है।)

बसन्ती—बेटी ! मेरी अभागिनी कुसुम ! वे चूड़ियाँ ही तो तेरे गरीब बाप की यादगार हैं। बेटी ! उन्हें न बेंच। पता नहीं, चूड़ियों के लिए वे पैसे कहाँ से बचा सके थे। (गहरी साँस लेकर) जयन्त के पैदा होने के बाद दो-तीन वर्ष तो बड़े सुख से कटे; फिर यकायक तुम्हारे पिता बीमार पड़ गये। घरकी सारी जमा-पूँजी उनकी बीमारी में खर्च हो गई। वे अच्छे तो हो गये, बेटी !, पर हम फिर नहीं पनपे। वे प्रतिदिन पंछी की तरह अपने बच्चों के लिये चारे की खोज में बड़े सबेरे ही घर से निकल जाते थे और शाम को अँधेरा होते-होते आते, दिन भर की मजूरी से जो कुछ पाते, सबका अन्न खरीदकर ले आते थे। मैं पीसती और रोटियाँ बनाकर पहले तुम दोनों को खिलाती; फिर जो बचता उसे हम दोनों बाँटकर खा लेते थे।

(गला भर आता है, रोती है।)

कुसुम—पिताजी हम दोनों को बहुत ही प्यार करते थे, माँ !

बसन्ती—प्राणों से भी ज्यादा, बेटी !—शाम को हम लोग किसी तरह खा-पीकर पेट भर लेते थे और सो जाते थे; पर सबेरे हम गरीब ही होकर उठते थे। महीनों दाल ही नहीं खाते थे; शाक-तरकारी तो साल भर में शायद किसी त्योहार के दिन ही बहुत कहने-सुनने पर आती

थी। पाँच बरस होगये, नये कपड़े उन्होंने शरीर पर डाले ही नहीं। बहुत काटने-कपटने पर कुछ पैसे बचते, तो उससे वे नई धोती खरीद लाते; पहले मुझे पहनाते; पाँच-छः महीने जब मैं उसे पहन लेती, तब वे मेरे लिये नई धोती लाकर मेरी उतारी हुई धोती खुद पहनते थे। मैं हाथ जोड़कर कहती—मेरा धर्म क्यों लेते हो? वे कहते—पुरुष का धर्म है स्त्री और बच्चों का पालन करना, मुझे इसी में सुख मिलता है।

(कुसुम रोती और दोनों हाथो से आँसू पोंछती है। बसंती जरा दम लेकर फिर कहने लगती है।)

बीमारी से उठने के बाद मैंने फिर कभी उनको हँसते नहीं देखा। बड़े सबेरे ही, जब तुम दोनों सोते रहते, वे काम की खोज में घर से निकल जाते; शाम को देर करके आते, तब पूछा करते—आज कुसुम हँस नहीं रही है, आज जयंत खेल नहीं रहा है, मालूम होता है तुमने कुछ डाट-डपट की है। मैं कहती—हँसकर और खेलकर वे थक चुके हैं। तब तुम दोनों को लेकर वे बैठ जाते और मैं रोटी-पानी की फिक्र में लग जाती।

कुसुम—हम लोगों ही की चिंता में पिताजी ने प्राण दिये, माँ!

बसन्ती—हाँ, बेटी! कई महीनों से उन्हें ज्वर आने लगा था। तब भी वे काम पर जाया करते थे। मैं बहुत रोकती, तब वे यह कहकर कि बच्चे क्या खायँगे? घर से निकल जाते थे। शाम को वापस आते तो कभी-कभी ज्वर चढ़ा ही रहता और बिना खाये-पिये ही वे इसी टूटी खाट पर पड़ जाते थे।

कुसुम—(रोती हुई) इस तरह हमारे प्यार में घुल-घुलकर पिताजी ने प्राण दिये, माँ!—हम बड़े ही अभागे हैं।

बसन्ती—वे हमें अनाथ छोड़ गये, बेटी!—बरसों से वे तेरे विवाह की चिंता में रात-रात भर जागते रहते थे। बार-बार यह कहकर व्याकुल हो जाते और आँसू गिराने लगते थे कि गरीब की कन्या को कौन

ब्याहेगा ? (रोती है) हाय ! वे तो संसार के दुःखों से छुटकारा पा गये; और हमारी नैया मँझधार में छोड़ गये।

(कोई दरवाजे की साँकल खटखटाता है।)

बसन्ती—(कुसुम से) देख तो बेटी ! कौन है ?

(कुसुम दरवाजा खोलती है, रघू और बिसेसर अंदर चले आते हैं। बसंती खाट पर से उतरकर नीचे बैठ जाती है।)

रघू—हरिबल्लभ कहाँ हैं ? सेठ ने भेजा है कि कर्ज जल्दी अदा कर दो, ब्याज बढ़ता जा रहा है; पीछे देना और भी कठिन हो जायगा।

बसन्ती—(कातर स्वर से) पंद्रह दिन हुए, उनका तो देहान्त हो गया। (रोती है।)

बिसेसर—(कठोर स्वर में) सेठ का पैसा तो जी रहा है ?

बसन्ती—मुझे तो मालूम नहीं, उन्होंने सेठ से कब और कितना कर्ज लिया था।

रघू—कर्ज लेकर मौज उड़ाने के बाद सब इसी तरह भूल जाते हैं, क्या तुम्हीं ? खैर; सेठ ने भेजा है कि आज ही सब चुकता कर दो।

बसन्ती—मेरे पास क्या है ? बच्चे आज तीन-चार दिन से भूखे रो रहे हैं। घर में अन्न का एक दाना भी नहीं है। बरतन बेंचकर उनका क्रिया-कर्म किया। पानी पीने के लिये अब एक बरतन भी घर में नहीं बचा है। (रोती है।)

बिसेसर—वह तुम्हारे सिर पर इतना कर्ज छोड़कर मर क्यों गया ?

बसन्ती—मरना-जीना अपने बस की बात तो है नहीं; (कुछ देर तक सोचकर) मैं अभी बड़े दुःख में हूँ। दो-चार दिन बाद मैं सेठजी के पास चलूँगी और उनसे कुछ मुहलत माँगूँगी। यह लड़का कुछ और बड़ा हो ले, तो कमाकर यह अपने बाप का ऋण पाई-पाई चुका देगा।

रघू—हमको तो सेठजी ने भेजा है कि आज ही जो कुछ हो ले दे लो; पीछे तुम्हारा क्या ठिकाना ? अभी तो तुम कहती थी कि हमें

मालूम ही नहीं, उन्होंने सेठ से कब और क्या ऋण लिया था। पीछे तो तुम सेठजी ही को भूल जाओगी।

बसन्ती—जो कुछ उन्होंने लिया होगा, उसे देने में हमें कोई उज्र न होगा। सेठ पर तो मेरा बहुत ही विश्वास है।

बिसेसर—हम तुम्हारी लम्बी-चौड़ी कहानी सुनने नहीं आये हैं। हम तो आज सेठ का कुल ऋण वसूल करके ही जायँगे।

बसन्ती—घर में देख लो, मेरे पास क्या है ?

रग्घू—(**कुसुम की ओर देखकर, जो खाट के पास माँ की बगल में आकर खड़ी हो गई थी**) हम तुम्हारी इस कन्या को ले जायँगे, जब तुम ऋण चुका दोगी, तब वापस कर देंगे।

(**कुसुम भय से काँप उठती है रग्घू कुसुम की ओर हाथ बढ़ाता है। बसन्ती उठकर कुसुम से लिपट जाती है।**)

बसन्ती—हाय, गरीब के घर में डाके न डालो। मेरी कुसुम के लिए ऐसे शब्द मुँह से न निकालो। मुझे ले चलकर कैद कर दो, पर कुसुम को मत छुओ।

बिसेसर—हाँ, तुमको ले चलकर कैद कर दें, ताकि तुम्हारी क्रिया-कर्म के पैसे गाँठ से और खर्च करने पड़ें। बड़ी चालाक हो तुम।

(**बिसेसर और रग्घू कुसुम को पकड़ते हैं। माँ-बेटी एक दूसरे से गुँथ जाती हैं।**)

बसन्ती—(**घिघियाकर**) मेरी कुसुम को मत ले जाओ। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। हे भगवान् ! बचाओ, बचाओ; गरीब के धन और धर्म को बचाओ।

(**कुसुम चिल्लाती है; रग्घू और बिसेसर धक्का मारकर बसन्ती को गिरा देते हैं और कुसुम के मुँह में जल्दी से कपड़ा ठूँसकर उसे उठा ले जाते हैं। बालक जयंत पहले तो हक्का-बक्का खड़ा देखता रहता है। फिर कुसुम के मुँह में कपड़ा ठूँसते देखकर वह दौड़कर रग्घू के हाथ में**

दाँत से काट लेता है और चिल्लाता है। रग्घू जयंत को एक थप्पड़ मार-कर घर से बाहर हो जाता है। जयंत गिरकर रोने लगता है।)

(हल्ला सुनकर पड़ोस की एक नवयुवती कन्या गौरी का प्रवेश)

गौरी—हाय, कैसा अत्याचार है! दिन-दहाड़े कन्या-हरण हो रहा है और कोई बोल नहीं रहा है। समाज में इतनी शक्ति नहीं कि वह अत्याचारी को रोक सके! चारोंओर भयानक कायरता छाई हुई है। महल्ले के लोग पशुओं जैसे आत्माभिमान से रहित हो गये हैं क्या? (बसंती की ओर देखकर) हाय, अभागिनी बसन्ती माँ, तुम्हारी यह दशा! (जयंत की ओर देखकर) भइया! पानी कहाँ रक्खा है? बसन्ती माँ के मुँह से खून गिर रहा है। लाओ, इसे धो दें।

(जयंत रग्घू का थप्पड़ खाकर तिलमिला उठा था, अब यकायक फूट-फूटकर रो पड़ा। गौरी ने आगे बढ़कर उसे चिपका लिया।)

गौरी—हाय! फूल ऐसा सुकुमार बच्चा पहाड़-ऐसे दुःख को कैसे उठा सकेगा? (जयंत से) भइया, पानी कहाँ रक्खा है?

जयंत—(हिचकते हुए) पानी तो दो-तीन दिन से चुका है। माँ कुछ खाती-पीती ही न थी; बहन और मैं पड़ोसी के यहाँ जाकर पानी पी आया करते थे।

(बसंती प्रलाप कर उठती है)

बसन्ती—बचाओ, बचाओ, कुसुम को डाकू लिये जा रहे हैं। पकड़ो, पकड़ो; यही हैं यही; हाय! मेरी कुसुम, तुम कहाँ जा रही हो!

(उठती है और दौड़ने का उपक्रम करते हुए मुँह के बल गिर पड़ती है। उसी दशा में उसके प्राण निकल जाते हैं।)

गौरी—हाय, अभागिनी के प्राण निकल गये जान पड़ते हैं। (जयंत से) भइया, चलो, मेरे घर चलो।

जयंत—नहीं, मैं माँ के पास रहूँगा।

(गौरी बाहर जाकर महल्लेवालों को जमा कर लाती है।)

गौरी—(पुरुषों से) तुम लोगों में क्या नाम-मात्र को भी मनुष्यता नहीं रह गई? हरिबल्लभ दादा मर गये। उनके बाल-बच्चे अनाथ हो गये। आज दिन-दहाड़े उनकी कन्या कुसुम को बसन्ती की गोद से दुष्ट लोग छीन ले गये। तुम लोग हाहाकार सुन रहे हो और कोई बोलते तक नहीं? इससे तो स्त्री बनकर तुम्हें घर के अन्दर बैठना अधिक शोभा देता। बसन्ती माँ का भी शरीर छूट गया; भला, अब उसके शरीर का तो अंतिम संस्कार कर आओ।

(लोग दुःख से पीड़ित होकर चुपचाप बसंती के शरीर को श्मशान-भूमि में ले जाने की तैयारी करते हैं।)

गौरी—आओ, जयंत! मेरे घर चलो।

(गौरी जयंत को अपने घर ले जाती है।)

दूसरा दृश्य

समय—सूर्यास्त के थोड़ा ही बाद।

स्थान—सेठ मनोहरलाल की कोठी का आँगन।

(कल्याणी तुलसी के चबूतरे के पास आसन पर बैठकर मन्द स्वर से प्रार्थना के भजन गा रही है।)

मैं माँगूँ सो दो,
मेरे प्रभु! मैं माँगूँ सो दो।
ऐसा विभव न देना जिससे मन अभिमानी हो।
मुझे गरीबी दो, मैं जग का दुख सब डालूँ धो॥
हृदय को ऐसा वैभव दो।
मेरे प्रभु! मैं माँगूँ सो दो॥

किसी जीव को तुच्छ न माँनूँ, ऐसा मन कर दो।
सबकी सेवा ही में जीऊँ थकूँ न पल भर को॥
देह में ऐसा बल भर दो।
मेरे प्रभु! ऐसा ही वर दो॥
मैं माँगूँ सो दो॥

(गौरी का प्रवेश)

गौरी—कल्याणी माँ, मैं अन्दर आ सकती हूँ?

(गौरी को देखकर कल्याणी भजन समाप्त करती है।)

कल्याणी—आओ, आओ, बेटी बहुत दिनों पर आई हो। कितने दिन आये हुआ?

(उठकर हृदय से लगा लेती है।)

गौरी—परसों आई हूँ, कल्याणी माँ!

कल्याणी—(गौरी को पास बैठाकर पीठ पर हाथ फेरती हुई) कहो बेटी, सुखी से तो हो? पढ़ाई ठीक चल रही है न?

गौरी—हाँ, मैंने इस वर्ष प्रान्त भर में सबसे अधिक नम्बर पाया है, माँ!

कल्याणी—(पीठ पर हाथ फेरती है।) भाग्यवती बेटी!

गौरी—सब तुम्हारी कृपा का फल है कल्याणी माँ!—तुम न पढ़ने के लिये सहायता देती, तो मेरे गरीब माँ-बाप बेचारे क्या कर सकते थे? (कुछ ठहरकर) आचार्याजी तुमको बहुत याद किया करती हैं। तुम्हारी प्रशंसा सुना-सुनाकर हम सबको उत्साहित किया करती हैं।

कल्याणी—(आँखों में प्रेमाश्रु भरकर) आचार्याजी का दर्शन किये दस वर्ष हो गये। उनकी उत्तम शिक्षा का लाभ मैं गृहस्थी में प्रति-क्षण उठाती हूँ बेटी!—गृहस्थी के घोर अंधकारमय जीवन-प थ में जहाँ कहीं मुझे मति-भ्रम होता है, वहाँ आचार्याजी दीपक लिये हुए मुझे मार्ग दिखाती हुई खड़ी-सी मिलती हैं, गौरी!—उनके तो स्मरण-मात्र से हृदय पवित्र और बलवान हो जाता है।

(यह कहते-कहते कल्याणी का चेहरा गंभीर और दृष्टि स्थिर हो जाती है।)

गौरी—अशोक भइया का क्या हाल है ? कल्याणी माँ !

कल्याणी—अशोक इस वर्ष विद्यालय की उच्च श्रेणी में गया है। गत वर्ष उसे भी बेटी, तुम्हारी तरह अच्छे नम्बर मिले थे।

(गौरी की आँखें हर्ष से डबडबा आती हैं और वह कल्याणी के मुँह पर टकटकी लगाकर देखती है।)

गौरी—कल्याणी माँ ! यह तुम्हारे पुण्य का प्रताप है। जबसे तुम आई हो, सैकड़ों कन्याओं और पुत्रों को तुमने विद्यादान दिलाया है। यह पुण्य माँ, कहाँ जायगा ?

(कल्याणी संकोच से सिर नीचा कर लेती है और गौरी की पीठ पर हाथ फेरने लगती है।)

कल्याणी—गौरी बेटी ! जब तक घर रहो, एक बार मुझसे रोज मिल जाया करो। अशोक भी अब दो ही चार दिन में आनेवाला है।

गौरी—(बातचीत में देरी होती देखकर कुछ सशंकित-सी होकर) अच्छा कल्याणी माँ, मैं रोज आया करूँगी। इस वक्त तो मैं एक बहुत जरूरी काम लेकर तुम्हारे पास आई हूँ।

कल्याणी—(प्यार से) बोलो, बेटी !

गौरी—हरिबल्लभ को तो तुम जानती हो ?

कल्याणी—हाँ, हाँ, कुसुम का पिता न ?

गौरी—हाँ, पन्द्रह दिन हुए, उनका देहान्त हो गया।

कल्याणी—(दुःख से चौंककर) देहान्त हो गया ! हाय, उसके बच्चे अनाथ हो गये !

गौरी—आज बसन्ती माँ भी चल बसी।

कल्याणी—(मर्माहत होकर) बसन्ती भी चल बसी ! बेटी, मैं तो घर-गृहस्थी के ऐसे जंजाल में पड़ी रहती हूँ कि मुझे बाहर की कुछ भी खबर नहीं मिलती। बसन्ती बहुत दिनों से मेरे घर नहीं

आई। उसके बच्चे कुसुम और जयंत पहले मेरे घर खेलने आया करते थे, इधर वर्षों से नहीं आते। मैंने समझा, वे पढ़ने-लिखने में लग गये होंगे। बेटी! तुम बड़े दुःखदायक समाचार लाई हो।

गौरी—मेरी माँ कहती थी कि पाँच-छः महीनों से बसन्ती घर से भी बाहर नहीं निकलती थी; क्योंकि उसके पास पहनने को कपड़े नहीं थे। एक फटी धोती लपेटकर वह घर ही में बैठी रहती थी। सबेरा होने से पहले और शाम होने के बाद अँधेरे में वह कुएँ से पानी लेने के लिये घर से निकला करती थी। कुसुम और जयंत भी बहुत दिनों से घर के अन्दर ही रोक रक्खे गये थे; क्योंकि उनके पास भी कपड़े नहीं थे। और बाहर आने पर किसी चीज के लिये बच्चों का मन चल जाता, तो उसे खरीद देने के लिये उनके माता-पिता के पास पैसे भी नहीं थे, इसीसे वे उन्हें घर में कैद रखते थे।

कल्याणी—(आँखों से आँसुओं की धारा गाल पर गिर रही है।) बेटी! संसार में बड़ा दुःख है। गरीबी का ऐसा हृदय-वेधक वर्णन तो मैंने कभी सुना भी नहीं था। देश में न जाने कितने परिवार गरीबी की भयानक आग में जल रहे हैं। हमारे सुख को धिक्कार है। हाय, कुसुम और जयंत बिलकुल ही अनाथ हो गये! उन दोनों को बेटी! लाकर मेरी गोद में बैठा दो। वे मेरे बच्चे हैं!

गौरी—कल्याणी माँ, इसके आगे का दुःख सुनोगी, तो तुम और भी पीड़ित होगी। वह दुःख तुम्हारे ही घर से उत्पन्न हुआ है।

(कल्याणी भयभीत होकर गौरी का मुँह देखने लगती है।)

गौरी—तुम्हारे स्वामी के नौकरों ने आज दोपहर को कुसुम का हरण किया है। विधवा माता की भुजाओं के भीतर से अनाथ बालिका को छीनकर वे ले गये हैं। बसन्ती पति की मृत्यु से अधमरी तो हो ही रही थी, कन्या-हरण का दुःख वह न सह सकी और उसके भी प्राण निकल गये।

कल्याणी—(अत्यन्त दुःखित होकर) हाय, मैं यह क्या सुन रही हूँ ? मेरे घर में पाप का प्रवेश हो रहा है ? मेरे स्वामी का अधःपतन हो रहा है ! प्राणनाथ ! सावधान हो; पाप की ज्वाला में संसार के समस्त सुख सूखे पत्ते की तरह भस्म हो जायँगे। हे भगवान्, मैं तो अपने स्वामी के चरित्र की प्रशंसा सुन-सुनकर फूली नहीं समाती थी; आज यह क्या सुन रही हूँ ? ऐसा घोर पाप ! (गौरी से) कुसुम को मेरे स्वामी के नौकर किस अपराध से पकड़ ले गये, बेटी ?

गौरी—हरिबल्लभ तुम्हारे स्वामी का कर्ज अदा किये बिना ही मर गया, इस अपराध से।

कल्याणी—जयन्त कहाँ है ?

गौरी—मैं उसे अपने घर पहुँचाकर, कुछ खाने-पीने को उसके सामने रखकर, तब जल्दी-जल्दी तुम्हारे पास आई हूँ कि तुमसे हो सके तो कुसुम का उद्धार करो।

कल्याणी—बेटी ! तुमने यह समाचार देकर मेरे पुण्य पर पहरा दिया है। मैं अपना प्राण देकर भी कुसुम की रक्षा कर सकूँगी तो करूँगी।

(दासी को ताली बजाकर बुलाती है। दासी आती है।)

कल्याणी—श्यामा, तुमको कुछ खबर है, हरिबल्लभ की बेटी कुसुम को मेरे नौकर पकड़कर ले आये हैं ?

श्यामा—हाँ, मालकिन ! नौकरों में दोपहर ही से कानाफूसी हो रही है कि आज रघू और बिसेसर हरिबल्लभ की कन्या को जबरदस्ती उठा लाये हैं।

कल्याणी—कहाँ रक्खा है ?

श्यामा—मुझे ठीक नहीं मालूम; पर तहखाने के अन्दर से किसी के रोने की आवाज मैं अभी-अभी सुनकर आ रही हूँ। फाटक पर रघू और बिसेसर बैठे हुए हैं।

कल्याणी—उठाकर लाते वक्त वह रोई-चिल्लाई नहीं ?

श्यामा—सुनती हूँ, मुँह में कपड़ा ठूँस दिया था।

कल्याणी—**(माथा ठोंककर)** हाय! राम!—अच्छा, रघू और बिसेसर को बुला लाओ।

(श्यामा रघू और बिसेसर को बुला लाती है।)

कल्याणी—**(रघू से)** तहखाने की चाभी किसके पास है?

(दोनों चुप)

कल्याणी—बोलते क्यों नहीं? तहखाने में तुमने किसी लड़की को छिपा रक्खा है?

(दोनों चुप)

कल्याणी—बिसेसर! **(कड़ी आवाज से)** बोलो, चाभी कहाँ है? नहीं तो अभी मैं तुम दोनों को पिटवाती हूँ। पापी, अन्यायी, मेरे स्वामी के सुख की राह में काँटे बिछा रहे हो? जिस डाल पर बैठे हो, उसी को काट रहे हो? घुन की तरह जिस काठ में रहते हो, उसी को भीतर से खोखला कर रहे हो?

(रघू आगे बढ़कर चाभी देता है।)

कल्याणी—**(श्यामा से)** सेठ अभी नहीं आये; कहाँ गये हैं? बैठक में पूछकर आओ। **(रघू और बिसेसर से)** तुम दोनों मेरे सामने से चले जाओ। **(दोनों जाते हैं।)**

(श्यामा पूछकर लौटती है।)

श्यामा—सेठ एक दावत में दोपहर ही को चले गये, तब से नहीं आये।

कल्याणी—**(आप ही आप)** हाय, स्त्री-जाति पर इतना अत्याचार! **(गौरी से)** गौरी बेटी! तुमने कुमुम की लाज रख ली और मेरे कुल के धर्म की भी रक्षा तुमने की। बेटी! मैं तुम्हारे इस ऋण से उऋण नहीं हूँ।

गौरी—**(कृतज्ञता का भाव प्रकट करती हुई)** कल्याणी माँ! मैं तो तुम्हारी पुत्री हूँ; मेरा तुम पर क्या ऋण हो सकता है, माँ!—मेरा जीवन तो तुम्हारे जीवन की एक साधारण-सी किरण है।

कल्याणी—(श्यामा से) तुम लालटेन लेकर मेरे साथ चलो। (गौरी से) तुम भी चलो।

(तीनों कमरे से बाहर जाती हैं।)

तीसरा दृश्य

समय—रात के आठ बजे

स्थान—कल्याणी का कमरा।

(कल्याणी अपना बक्स खोकर उसमें से कुसुम को एक धोती और एक आधी बाँह का कुरता देती है। कुसुम की धोती, मैली और जगह-जगह से फटी है। कुसुम उसे बदलकर नई धोती और कुरता पहनती है। फिर कल्याणी मिठाइयों और पकवान के डब्बे खोलकर चाँदी की तश्तरियों में थोड़ा-थोड़ा रखकर कुसुम के सामने रखती है। गौरी पास ही खड़ी है। वह तबतक चाँदी की सुराही से चाँदी के गिलास में पानी उँड़ेलकर तश्तरियों के पास रख देती है। धोती और कुरता पहनकर कुसुम बैठ जाती है।)

कल्याणी—(कुसुम से) खा लो, बेटी!—तुम तो कई दिनों से भूखी होगी!

(कुसुम खाने लगती है, उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती है। वह कुछ उत्तर नहीं देती।)

गौरी—कल्याणी माँ! कुसुम सचमुच कई दिनों से भूखी है।

कल्याणी—देखो, बेटी! धन से धर्म भी होता है और अधर्म भी होता है। मेरे स्वामी तो बड़े चरित्रवान् माने जाते हैं, और मैं भी जानती हूँ, कि हैं। पैसा ही उनसे यह पाप करा रहा है। अब पाप घर में

आ गया है, तो वह बड़ी जल्दी पनपने भी लगेगा और इस घर का नाश कर देगा।

(गौरी चुपचाप सुनती है। कुसुम खा-पीकर तश्तरियाँ और गिलास उठाकर एक कोने में रख देती है।)

कल्याणी—**(कुसुम से)** बेटी! अब तुम किसी बात की चिन्ता न करो। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी। **(कुसुम डबडबाई आँखों से कल्याणी का मुँह देखती है)** मैं तुमको आज ही इस गाँव से बाहर भेज देती हूँ। तुम हमारी आचार्याजी के पास जाकर शिक्षा लो; तुम्हारा सब खर्च मैं दूँगी। शिक्षा ले लेने के बाद फिर जैसी परिस्थिति होगी, वैसा किया जायगा। आज से तुम्हारा नाम भी बदल जायगा। मैं मृदुला नाम रख रही हूँ। पसंद है न?

कुसुम—पसंद है, माँ जी! **(आँसू पोंछती हुई)** जैसी आप आज्ञा देंगी, वही करूँगी।

कल्याणी—**(गौरी से)** गौरी! अब देर करना ठीक न होगा। मैं चाहती हूँ कि तुम आज ही रात में कुसुम को लेकर यहाँ से निकल जाओ। बोलो, तैयार हो?

गौरी—कल्याणी माँ! मुझे इससे बढ़कर खुशी और क्या होगी कि मैं अपनी एक अनाथिनी बहन के उद्धार में तुम्हारे काम आऊँ। मैं तो तैयार खड़ी हूँ।

कल्याणी—तुमसे बेटी! ऐसी ही आशा थी। अच्छा, तो तुम मुझसे एक पत्र लो और कुसुम को साथ ले जाकर आचार्याजी को सौंप आओ। वे अपने कन्या-विद्यालय में, जिसमें मैंने शिक्षा पाई है, रख लेंगी और शिक्षा की अच्छी व्यवस्था कर देंगी। कुल खर्च मैं दूँगी।

गौरी—पत्र लिख दीजिए, मैं तो तैयार हूँ।

(कल्याणी पत्र लिखकर गौरी के हाथ में देती है। और उठकर बक्स खोलकर उसमें से कुछ नोट निकालकर गौरी को देती है। फिर एक छोटा सूट केस खाली करके जल्दी-जल्दी उसमें कुछ धोतियाँ, अँगौछे

कुरतियाँ, तेल की शीशी, साबुन, कंघियाँ, शीशा, कागज, फाउंटेनपेन, लिफाफे, कार्ड, पेंसिलें रख देती है। एक डब्बे में कुछ मिठाइयाँ और नमकीन भी रख देती है। कुसुम की नाप का एक चप्पल निकालकर कुसुम को दे देती है।)

कल्याणी—यह सूट-केस कुसुम का है। इसे साथ ले जाओ। थोड़े दिन बाद मैं आचार्याजी से मिलने आऊँगी तो कुसुम को और जिन चीजों की जरूरत होगी, वहीं प्रबंध कर दूँगी। (कुछ सोचकर) मगर तुम रात में अकेली जाओगी कैसे?

गौरी—भाई को साथ ले लूँगी।

कल्याणी—हाँ, ठीक है। तुम बड़ी चतुर हो बेटी!—अच्छा, अब जल्दी करो। सेठ के आने के पहले ही कोठी में से निकल जाओ।

(कुसुम उठकर कल्याणी का पैर छूकर प्रणाम करती है। कल्याणी उसकी पीठ पर हाथ फेरती है। फिर हृदय से लगा लेती है। कुसुम की आँखों में आँसू हैं। गौरी उठकर कल्याणी का पैर छूकर प्रणाम करती है।)

कल्याणी—(गौरी से) तुम दोनों जाओ। श्यामा अभी सूट-केस को तुम्हारे घर दे आयेगी। हाँ, जयंत तुम्हारे घर में है, उसे भी साथ लेते जाना।

गौरी—बहुत अच्छा, माँ।

(दोनों दरवाजे की ओर जाती हैं। कल्याणी उन्हें दरवाजे के बाहर पहुँचाकर कमरे में वापस आती है, और ताली बजाती है। श्यामा का प्रवेश।)

कल्याणी—(सूट-केस की ओर इशारा करके) यह सूट-केस लेकर गौरी के घर अभी दे आओ।

(श्यामा सूट-केस उठाकर बाहर जाती है। कल्याणी पलँग पर मुँह ढककर लेट जाती है।)

चौथा दृश्य

समय—रात के नौ बजे।

स्थान—कल्याणी का कमरा।

(कल्याणी मुँह ढककर बिछौने पर पड़ी रो रही है। कमरा खूब सजा हुआ है। मनोहरलाल का प्रवेश।)

मनोहर०—प्रेमा! (मनोहरलाल कल्याणी को इसी नाम से पुकारता था।) आज क्या है, जो शाम ही से मुँह ढककर सो रही हो?

(कल्याणी पलँग पर से उठकर नीचे फर्श पर बिछे कालीन पर बैठ जाती है। मनोहरलाल कोट और पगड़ी खूँटी से टाँगकर उसके पास बैठ जाता है।)

मनोहर०—मेरी रानी! आज क्या बात हुई, जो तुम इतनी उदास हो? (ठुड्डी पकड़कर उसका मुँह अपनी ओर करता है।)

(कल्याणी की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही है; वह मनोहरलाल की गोद में सिर डालकर सिसक-सिसककर रोने लगती है।)

मनोहर०—मेरी प्यारी लक्ष्मी! मैं अधिक देर तक तुमको दुःखी नहीं देख सकता। बोलो, सच-सच बोलो। मुझसे कोई अपराध हुआ है?

कल्याणी—(सिर उठाकर, प्रियतम का ओर सजल नेत्रों से देखती हुई) हाँ।

मनोहर०—(जरा उत्तेजित स्वर में) क्या?

कल्याणी—हरिवल्लभ की कन्या को उसकी विधवा माता की गोद से छीन लाने की आज्ञा तुमने दी थी?

मनोहर०—(जरा दृढ़ता से) हाँ।

कल्याणी—क्यों?

मनोहर०—क्योंकि हरिबल्लभ मेरा कर्ज अदा किये बिना ही मर गया।

कल्याणी—कितना कर्ज था ?

मनोहर०—पचास रुपये।

कल्याणी—क्या एक अनाथ कन्या की लाज और अपने कुल की मर्यादा का मूल्य पचास रुपये से भी कम है ?

मनोहर०—(कुछ क्रुद्ध होकर) कम हो या अधिक, इस विवाद में पड़ने को तुम्हें क्यों जरूरत हुई ? तुम्हारे किसी काम में तो मैं दखल नहीं देता हूँ। पन्द्रह-सोलह बरस तुम्हें आये हुए, तब से तुम्हारी प्रसन्नता के लिये ही मैं दूसरों के पुत्रों और कन्याओं के पढ़ाने में हर महीने कई सौ रुपये देता रहा हूँ। अगर कर्ज न वसूल लिये जायँ, तो ये रुपये कहाँ से आयेंगे ?

कल्याणी—(कुछ उत्तेजित स्वर में) अगर ये रुपये पाप ही की कमाई से आते हैं, तो यह पुण्य बंद कर दीजिए।

मनोहर०— (क्षुब्ध होकर) तुम कर्ज के वसूल करने को पाप की कमाई क्यों कहती हो ? मैं किसी पर डाका डालता हूँ ? या चोरी करता हूँ ? हरिबल्लभ को जब-जब जरूरत पड़ती थी, वह ले जाता था। मैंने इसमें क्या अपराध किया था ?

कल्याणी—पर कुसुम ने तुम्हारा क्या अपराध किया था ?

मनोहर०—कुसुम उसकी कन्या है। बाप का कर्ज उसके लड़कों से न वसूल किया जायगा, तो किससे किया जायगा ?

कल्याणी—तो तुम उसकी स्त्री या लड़के को पकड़ मँगाते।

मनोहर०—(खीझकर) यह मेरी समझ में नहीं आता कि तुम इस झगड़े में क्यों पड़ रही हो ?

कल्याणी—प्राणेश्वर ! मेरे हृदय के एकमात्र देवता ! केवल आपके कल्याण के लिए। घर में अधर्म का प्रवेश होगा, तो सुख और शान्ति चले जायँगे।

मनोहर०—चले जाने दो सुख और शान्ति को। मैं पैसे से बहुत-सा सुख और शान्ति खरीद लूँगा। धर्म-अधर्म के पचड़े में तुम मत पड़ो। सुख से खाओ-पिओ, सोओ। तुमने ऊँचे दरजे तक शिक्षा पाई है, इसीसे आकर्षित होकर मैंने तुम्हारे साथ विवाह किया था। इस शिक्षा से हमेशा नये-नये सुखों की कल्पना किया करो और उसे प्राप्त करके मनुष्य के शरीर को सार्थक करती रहो। तुम अपनी शिक्षा को अपने सुख के मार्ग में कंटक क्यों बनाती हो?

कल्याणी—प्रियतम, मेरा सौभाग्य है कि आपने मुझे पत्नीरूप से ग्रहण किया; मैंने अबतक आपके पुण्य-प्रताप से बहुत सुख भोगा है। मुझे उसी की चिंता है कहीं वह छिन न जाय। पर जीवन का सच्चा सुख अधर्म से नहीं प्राप्त हो सकता, यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ। नाथ, तुम दूसरे की कन्या को अपनी ही कन्या के समान समझो।

मनोहर०—तुमको भी?

कल्याणी—(**उत्तर पर ध्यान देकर**) हमारे एक ही सन्तान है। माता-पिता के पुण्य ही से सन्तान का कल्याण होता है। तुम मेरे लिये न सही, अशोक के लिये ही पाप के मार्ग से अपना पैर खींच लो, मेरे स्वामी!

मनोहर०—मैं पाप के रास्ते पर नहीं जा रहा हूँ प्रेमा!—व्यर्थ कलह करके घर में दुःख का बीज न बोओ। अथवा तुम यही मान लो कि मैं कीचड़ में उतर चुका हूँ, तो अब तुम्हारे निकाले निकल भी नहीं सकता। कीचड़ में मुझे लथपथ हो जाने दो।

कल्याणी—(**आँखों में आँसू भरकर**) मेरे जीते-जी?

मनोहर०—हाँ; प्रेमा, मुझे कोई रोक नहीं सकता। बताओ, कुसुम कहाँ है?

कल्याणी—(**कुछ कुपित होकर**) क्या करोगे कुसुम को? कुसुम जहाँ से आई थी, वहीं गई।

मनोहर०—(**सक्रोध उठकर**) अच्छा, तो तुम मेरा सुख छीनती

हो, तो मैं भी तुम्हारा सुख छीनता हूँ। अब मैं आज से तुमसे अलग रहा करूँगा।

कल्याणी—(मनोहरलाल के गले में हाथ डालकर) ऐसा न करो, मेरे नाथ ! मेरा सुख तो तुम्हारे ही सुख में है।

(मनोहरलाल उठकर जाने लगता है; कल्याणी उसे पकड़ती है। मनोहरलाल उसे धक्का देकर गिरा देता है और कोट और पगड़ी पहन कर कमरे से बाहर चला जाता है। कल्याणी फर्श पर पड़ी रहती है।)

पाँचवाँ दृश्य

समय—रात के नौ बजे।

स्थान—गौरी का घर।

(घर साधारण खपरैल का है। गौरी की माँ आँगन से लगे हुए ओसारे में बैठी है। एक दीपक जल रहा है।)

(कुसुम और गौरी का प्रवेश)

गौरी—माँ, जयन्त कहाँ गया ?

माँ—अभी यहीं तो बैठा था, बेटी !

(गौरी ढूँढ़ती है; फिर जयंत के घर में जाकर ढूँढ़ती और धीरे-धीरे बुलाती है, आवाज सुनाई पड़ती है। वह नहीं मिलता तो लौटकर माँ के पास आती है।)

गौरी—माँ, जयन्त तो कहीं चला गया। उसे तुम ढूँढ़कर अपने पास रखना। माँ, कुसुम मिल गई। कल्याणी माँ ने उसे कन्या-विद्यालय में आचार्याजी को सौंप आने के लिए मेरे सुपुर्द किया है। वे उसकी शिक्षा का कुल खर्च देंगी। मैं आज रात को भइया को साथ लेकर अपने विद्यालय को जा रही हूँ। कल्याणी माँ ने कितनी कन्याओं को शिक्षा दिलाकर सुखी किया है, माँ। वे तो साक्षात् लक्ष्मी हैं।

माँ—कुसुम मिल गई ? बेटी !—मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं जयन्त की खोज करूँगी। वह यहीं कहीं होगा। सच है बेटी, कल्याणी स्त्री के अपनी शिक्षा और धन का जैसा सुन्दर उपयोग कर रही है, वह प्रत्येक लिये आदर्श है। बेटी ! तुम खाना तो खा लो।

गौरी—माँ, खाना रास्ते में खा लूँगी। भइया तैयार होकर यह आ रहे हैं। माँ, अब हमें देर नहीं करनी चाहिए।

माँ—कुसुम कहाँ है ?

गौरी—उसे छिपाकर रक्खा है।

(अशोक कपड़े पहनकर एक झोला लटकाये हुए आता है। कुसुम और दोनों भाई-बहन माँ के पैर छूते हैं और जाते हैं।)

गौरी—**(द्वार तक पहुँचाकर)** जयन्त की खबर लेना, माँ !—मिल जाय तो कल्याणी माँ को खबर कर देना।

माँ—अच्छा, बेटी ! जल्दी लौटना। कुसुम को सुख से ले जाना।

गौरी—अहा, आज मुझे कितना हर्ष हो रहा है, मैं उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकती। मैंने कुसुम बहन का उद्धार किया, कल्याणी माँ के मुँह से यह सुनकर मैं हृदय में एक अद्भुत प्रकार के सुख का अनुभव कर रही हूँ। जो सत्पुरुष एक समाज का उद्धार करते हैं, या एक देश का उद्धार करते हैं, उनके हर्ष का तो मैं अनुमान भी नहीं कर सकती। दुखियों की, दलितों की, अत्याचार-पीड़ितों की सेवा में कितना सुख है ! कितना आनन्द है ! मानो मैं इस सेवा के अन्दर से ईश्वर को झाँक रही हूँ। हे ईश्वर, तुम मुझे सदा दीन-दुखियों की सेवा का सुख सौंपना। इस सुख की प्राप्ति में मैं अपना जीवन लगा दूँ, ऐसी भावना मेरे मन में सदा जगाते रहना।

(कहीं से किसी भिखभंगे का से यह गाना सुनाई पड़ रहा है। दोनों खड़े होकर सुनते हैं।)

ना मन्दिर में ना मसजिद में ना गिरजे के आस-पास में।
ना पर्वत पर ना नदियों में ना घर बैठे ना प्रवास में।
ना गाने में ना बाने में ना आँसू में नहीं हास में।
खोज ले कोई राम मिलेंगे दीन-जनों की भूख-प्यास में॥

गौरी—चलो, शकुन अच्छा है। (दोनों जाते हैं।)

छठा दृश्य

समय—प्रभात-काल।

स्थान—पंडित देवदत्त का घर।

(पण्डित देवदत्त प्रभात-वेला में उठकर स्नान के लिए धोती लोटा लिये घर से बाहर आते हैं। दरवाजे पर एक सुन्दर लड़का गहरी नींद में पड़ा मिलता है।)

देवदत्त—हैं! यह कौन है? जान पड़ता है, कोई अनाथ बालक है, कहीं शरण नहीं मिली तो यहीं पड़कर सो रहा है। हाय, यह किसके घर का दीपक है। किस गरीब की गाँठ का धन है। हाय! संसार की कैसी विचित्र गति है, कितने ही दुष्ट दुराचारी लोग इस समय मखमली गद्दे पर खुर्राटें ले रहे होंगे और यह बच्चा कड़ी जमीन पर पड़ा है। भगवान्, पृथ्वी पर यह अन्याय कब तक चलेगा? **(लड़के को गौर से देखकर)** लड़का बड़ा सुन्दर है। गहरी नींद में सो रहा है। इसके वस्त्र बहुत पुराने और फटे हुए हैं। अरे; इसकी पीठ पर का वस्त्र तो रक्त से चिपक गया है। जान पड़ता है किसी ने इसे मारा है। हाय! संसार में ऐसे भी कठोर-हृदय नराधम हैं, जो बच्चों पर भी हाथ चलाते हैं।

(देवदत्त झुककर बच्चे को जगाता है। बच्चा उठ बैठता है और इधर-उधर देखने लगता है।)

देवदत्त—बेटा, तुम किसके लड़के हो ?

लड़का—मैं हरिबल्लभ का लड़का हूँ।

देवदत्त—(चौंककर आप ही आप) अरे, हरिबल्लभ का लड़का ! हरिबल्लभ और उसके परिवार की कथा तो कल दोपहर से जङ्गल की आग की तरह गाँव भर में घर-घर फैल रही है। जैसा अंधेर सोनपुर में हो रहा है, वैसा अंधेर तो कभी कहीं सुना भी नहीं गया। धनिकों के अत्या चार से तो धरती काँप उठी है। गाँव में किसी सुंदर बहू-बेटी का धर्म रहना कठिन हो रहा है। कैसे परिताप की बात है कि दिन-दहाड़े दुष्ट लोग एक कन्या का हरण करें और महल्ले के लोग घर से बाहर झाँकें तक नहीं ! लोगों में प्राण रहा ही नहीं, बिलकुल मरघट की-सी कायरता छा रही है। (लड़के से) बेटा ! तुम्हारा नाम क्या है ?

लड़का—जयन्त।

देवदत्त—कितना सुन्दर नाम है ! तुम घर से यहाँ कैसे आ गये ? बेटा !

जयन्त—मैं गौरी बहन के घर में था। रात में मुझे माँ की मोह लगी। मैं चुपचाप गौरी बहन के घर से निकलकर अपने घर में गया। वहाँ कोई न था। माँ, माँ कहकर कई बार पुकारा, कोई न बोला। कुसुम बहन को कुछ लोग दोपहर ही को जबरदस्ती पकड़कर उठा ले गये थे। मैं घर से निकलकर अँधेरे में रास्ता भूल गया।

देवदत्त—तुम्हारी पीठ पर यह घाव कैसे लगा, जयन्त !

जयन्त—मैं बाजार में आ रहा था, चाय की दूकान पर कुछ लोग बैठे खा-पी रहे थे। वे कुत्ते के लिये रोटी के कुछ टुकड़े सड़क पर फेंक रहे थे। मुझे बड़ी भूख लगी थी; मैंने भी एक टुकड़ा उठा लिया। इसी पर एक आदमी ने दौड़कर मुझे एक बेंत मारा।

देवदत्त—वह कौन आदमी था, बेटा ?

जयन्त—मैं उसको पहचानता हूँ। वही तो कुसुम बहन को उठा ले गया था। मैंने उसके हाथ में दाँत काट लिया था। वह पट्टी बाँधे भी था।

देवदत्त—तुमको उसने नहीं पहचाना ?

जयन्त—उसके साथी ने पहचाना और कहा—इसी साले ने तुम्हारे दाँत काटा था। ले चलकर इस साले को कहीं खतम कर दो।

देवदत्त—**(क्रोध से दाँत पीसकर)** फिर ?

जयन्त—मैं अँधेरे में छिप गया और गलियों में भागकर यहाँ पहुँचा। बेंत की चोट से पीड़ा बहुत हो रही थी। यहीं गिर पड़ा और फिर नींद आ गई।

देवदत्त—**(आप ही आप)** मेरे अकेले के प्राण देने से गरीबों पर होनेवाले अत्याचार मिट सकते, तो मैं अभी मरने को तैयार था; पर मन में जो आज क्रोध उत्पन्न हुआ है, उसे व्यर्थ क्यों जाने दूँ ? मेरे कोई संतान तो है नहीं, घर में हम स्त्री-पुरुष दो ही हैं। इस बच्चे को हम पाल क्यों न लें ? और इसे ऊँचे दरजे की शिक्षा दिलाकर इसी को अत्याचार और अत्याचारियों के दमन के लिए क्यों न तैयार करें ? **(बालक से)** बेटा ! अब तुम कहाँ जाओगे ?

जयन्त—पता नहीं।

देवदत्त—इधर-उधर भटकते फिरोगे तो शायद वह दुष्ट आदमी तुमको फिर मिल जाय और तुम्हें मारे-पीटे।

जयन्त—अबकी बार वह मिलेगा, तो मैं उसके दूसरे हाथ को भी काट खाऊँगा; चाहे वह बाद को मुझे मार ही डाले। मुझको उसने कुत्ते से भी नीच समझा।

देवदत्त—**(आप ही आप)** अन्दर आग है, इसे फूँक मार-मारकर सुलगाना पड़ेगा। **(प्रकट)** बेटा ! तुम मेरे घर में रहोगे ?

(जयन्त देवदत्त के मुँह की ओर टकटकी लगा देता है। उसकी

कमल ऐसी बड़ी-बड़ी आँखों में से आँसू की दो बूँदें ढुलक पड़ती हैं। देवदत्त उसे उठाकर गोद में ले लेता है।)

देवदत्त—चलो बेटा, अंदर चलो। आज से तुम मेरे पुत्र हुए।

(देवदत्त जयंत को गोद में लिये हुए अंदर ले जाता है।)

सातवाँ दृश्य

समय—प्रातःकाल।

स्थान—देवदत्त के घर का आँगन।

(देवदत्त जयंत को गोद में लिये खड़ा है। कमला घर के अन्दर किसी कमरे में है।)

देवदत्त—(अपनी स्त्री से) कमला, बाहर आओ, देखो, आज भगवान् ने मुझे एक पुत्र दिया है।

कमला—(कोठरी में से) क्यों ताना मारते हो?

देवदत्त—देखो तो सही। कैसा सुन्दर बालक है!

(कमला बाहर आती है)

देवदत्त—तुम रात भर बसन्ती का हाल सुनकर रोती रही न? यह उसी का बालक है।

(कमला की आँखें भर आती हैं। वह आगे बढ़कर जयंत को देवदत्त की गोद से उतार लेती है। फिर उसके मुँह पर, सिर पर हाथ फेरती है।)

कमला—कैसा सुन्दर बालक है! जैसे राजकुमार। इसकी बहन कुसुम इससे भी सुंदर है। हाय! उसकी सुन्दरता ही उसके नाश का कारण हुई।

देवदत्त—जगत् में अभी तक किसी भी मनोहर पदार्थ से ऐसा बुरा परिणाम नहीं निकला, जैसा स्त्रियों के सौन्दर्य से।

कमला—इसको पाल लो। यह हमारा पुत्र है। हमारे घर का दीपक है।

देवदत्त—नहीं; सोनपुर का सूर्य है, ऐसा कहो। मैं इसे पढ़ा-लिखाकर गरीबों की रक्षा के लिये तैयार करूँगा। भगवान् ने हमें कोई संतान नही दी। अब इसी की सँभाल में इसी की सेवा में, मेरे दिन बीतेंगे। यही मेरी पूजा, यही पाठ, इसी के लिये कमाऊँगा। समझी ?

कमला—(**प्रसन्न होकर**) समझी।

देवदत्त—आज सबेरे एक पुत्र और उत्पन्न हुआ है।

कमला—तुम्हारे ?

देवदत्त—हाँ, मेरे।

कमला—अब कुछ दिनों में पुरुष लोग ही बच्चे उत्पन्न करने लगेंगे। (**जिज्ञासा से**) अच्छा, फिर वह पुत्र कहाँ गया ?

देवदत्त—उसका नाम है क्रोध। वह इसी के साथ जीवित है; पर दिखाई नहीं पड़ता है। वह मेरे हृदय में खेल रहा है। वही उसका क्रीड़ा-क्षेत्र है। जिस दिन यह बालक गरीबों की ढाल होकर खड़ा होगा और अत्याचारियों को दमन करके, फिर न्याय और मर्यादा की रक्षा करके, सुख की साँस लेगा, उसी दिन उस बालक का अंत हो जायगा। समझी ?

कमला—खूब समझी। पर इसे यहाँ रखना अच्छा नहीं होगा।

देवदत्त—अभी दो-चार दिन तो इसे छिपाकर रक्खो। इसका घाव अच्छा हो जाय और शरीर में कुछ बल आ जाय, तब मैं इसे दूर—बहुत दूर ले जाकर अपने एक मित्र के आश्रम में छोड़ आऊँगा। उनको हर महीने खर्च भेजा करूँगा। वे मेरी इच्छा के अनुसार इसकी शिक्षा का प्रबंध करेंगे। साल में हम तुम एक-दो बार इसे देखने भी चला करेंगे। समझी ?

कमला—(**प्रसन्न होकर**) समझी। मैं आज कल्याणी के पास जाना चाहती हूँ। हम दोनों ने एक ही कन्या-विद्यालय में शिक्षा पाई

थी। उसको कहूँगी कि उसके स्वामी क्या अनर्थ कर रहे हैं। वह उन्हें रोकती क्यों नहीं ?

देवदत्त—जाना हो तो जाओ, पर परिणाम अच्छा न होगा। मनोहरलाल अब इतने पाप-पंक में फँस चुका है कि कल्याणी के उबारे नहीं उबर सकता। उसके उद्धार का एक-मात्र उपाय यही जयंत है।

कमला—पर जयंत के तैयार होने तक तो वह कितने गरीबों का सत्यानाश कर चुकेगा।

देवदत्त—यह ठीक है, पर हमें उतना ही भार उठाना चाहिए, जितना हम उठा सकें। सारा उद्योग उत्तम परिणाम ही को लक्ष्य में रखकर करना चाहिए। समय की चिन्ता करने से जल्दबाजी होगी और हमारा उद्योग लक्ष्य-भ्रष्ट हो जायगा। अत्याचार संसार में हमेशा होते आये हैं और आगे भी होंगे। साथ ही उनके रोकने के प्रयत्न भी होते रहते हैं। अत्याचारी अपनी मृत्यु भी अपने साथ साथ लेकर चलता है। अत्याचार जितना ही तेज गति से चलता है, उतना ही शीघ्र वह नाश के निकट भी पहुँचता जाता है। मान लिया कि तुमने जाकर कल्याणी को कहा, और कल्याणी तुम्हारी बातों में आ गई; उसने मनोहरलाल को कहा। मनोहरलाल यदि अधर्म से न हट सका तो पति-पत्नी में सदा के लिये वैमनस्य हो जायगा, जो तुम्हें अभीष्ट नहीं।

कमला—बिलकुल नहीं।

देवदत्त—और यदि कल्याणी ने तुम्हारी बात अनसुनी कर दी, तो तुम उसके लिये कोई अच्छे विचार लेकर थोड़े ही आओगी ?

कमला—उसके लिये जो अच्छे विचार अब हैं, उन्हें भी गँवा आऊँगी।

देवदत्त—तब तो घाटे में तुम्हीं रहोगी। इससे तो अच्छा यह है कि हम लोग अब से सारा समय जयंत के लिये दें; यह शिक्षा पाये और हम दोनों अपनी आय में से अधिक से अधिक बचाकर इसका व्यय चलायें। अपने गाँव, अपने समाज, अपने देश की सेवा हम इस

प्रकार करें। इस बालक के इतने सुन्दर नेत्र क्या इस बात के साक्षी नहीं हैं कि इसके हृदय को ईश्वर ने अपना अधिक अंश सौंपा है? कमला, बातों में पड़ने की आवश्यकता नहीं। आज का दिन बड़ा शुभ है। चलो, गरीबों पर होनेवाले अत्याचारों के दूर करने का श्रीगणेश हम आज ही से करें।

कमला—(जयन्त का मुँह चूमकर) आओ, बेटा! अपने देश में चन्द्रमा की तरह उदय हो और निर्जीव लोगों पर अमृत की वर्षा करके उन्हें जीवन प्रदान करो।

देवदत्त—चलो बेटा। सूर्य की तरह प्रकाशित होकर अत्याचार-रूपी अंधकार का नाश करो।

(कमला और देवदत्त जयन्त को कोठरी के अन्दर ले जाते हैं।)

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

(दस वर्ष बाद)

समय--प्रातःकाल।

स्थान—कन्याओं के आश्रम की एक कोठरी।

(कुसुम कोठरी की खिड़की से सूर्योदय देख रही है।)

कुसुम—अहा, प्रातःकाल कितना सुन्दर होता है! पक्षी चहचहा रहे हैं, फूल खिल रहे हैं, भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, वायु फूलों से सुगंध ले-लेकर चारोंओर बाँट रही है, पृथ्वी दूब की थाली में मोती लेकर सूर्य का स्वागत करने को उत्सुक है; सृष्टि आनंद से हँस रही है। **(आकाश की ओर दृष्टि उठाकर एक गहरी साँस लेकर)** मेरे जीवन का प्रभात भी आ रहा है। मेरे खिलने का समय आ गया। कल आचार्या जी कह रही थीं कि शीघ्र ही तुम्हें संसार में जाना पड़ेगा। ओह, संसार कितना भयानक है! वहाँ आदमी आदमी को खाये जा रहा है; सब लोग सर्वनाश की ओर डंका बजाकर हँसते हुये दौड़े जा रहे हैं। उसी छल-कपट, दंभ, अत्याचार, विषाद और निराशा के क्रीड़ा-स्थल में मुझे आचार्याजी दुःखों से लड़ने के लिये भेज रही हैं। उन्होंने मुझे दुःखों को परास्त करने की शक्ति दी है। मैं जाऊँगी; दीन-दुखियों की सेवा ही में अपना जीवन बिताऊँगी। **(कुछ सोचकर)** हाय, मेरे माता-पिता कैसे दुःखी थे! मेरी ही चिंता में उनके प्राण गये; उनकी प्रतिष्ठा गई। न जाने देश में कितनी कन्यायें मेरी ही तरह अपने माता-

ा की मृत्यु का कारण हो रही होंगी। धनिकों की तृप्ति के लिए तनी बहनें, कितने भाई, कितनी मातायें, कितने पिता अपना धर्म, ाना मान और अपना स्वर्ग गँवा रहे होंगे। मुझे मनुष्य-जाति में ाचरण की रक्षा के लिये लड़ना होगा। कल कल्याणी माँ का पत्र चार्याजी दिखला रही थीं, जिसमें लिखा था कि कुसुम की शिक्षा ा हो चुकी हो, तो उसे देश के दीन-दुखियों की सेवा के लिये संसार भेज दो। कल्याणी माँ साक्षात् देवी हैं। देश के बच्चों पर उनकी नी ममता है। सात वर्ष मुझे आश्रम में आये हो गये; तब से उनके न न हुये। वे प्रत्येक मास मेरा हाल आचार्याजी से पूछती रहती हैं, लिये भोजन, वस्त्र और पुस्तकें भेजती रहती हैं। मैं समझती हूँ, वे ार में सबसे अधिक मुझे ही प्यार करती हैं। उनकी आज्ञा मैं नहीं टूँगी। मैं संसार में जाऊँगी और जीवन की प्रत्येक साँस दीन-दुखियों सेवा में लगा दूँगी, ताकि कल्याणी माँ मुझे प्यार से गोद में बैठा । (कुछ ठहरकर आकाश की ओर चलकर) हाय, मेरा प्यारा भाई ात कहाँ है? है भी या नहीं? आजतक मुझे पता न चला। मैंने बार आचार्याजी को कहा कि कल्याणी माँ को लिखकर जयन्त का ा पूछ लीजिये। आचार्याजी सदा यह कहकर टालती रहीं कि कल्याणी नहीं चाहतीं कि तुम्हारा कोई पत्र उनके पास जाय। यहाँ तक कि तुमसे मिलना भी नहीं चाहतीं। मेरा नाम भी आश्रम में कुसुम के ले मृदुला उन्हीं की आज्ञा से रख दिया गया था। मैं इस पहेली अर्थ नहीं समझी; फिर भी कल्याणी माँ और आचार्याजी की जो ज्ञा होगी, मैं उसका अक्षर-अक्षर पालन करूँगी।

(एक सहेली का प्रवेश)

सहेली—मृदुला बहन! तुमको आचार्याजी बुला रही हैं।

कुसुम—कहाँ हैं?

सहेली—लता-निकेतन में, कोई रानी आई हैं। उनके साथ उनकी ाकुमारी भी है।

कुसुम—रानी और राजकुमारी से मेरा क्या प्रयोजन ! खैर; चल आचार्याजी के पास तो चलती ही हूँ । **(दोनों जाती हैं ।)**

दूसरा दृश्य

समय—प्रातःकाल ।

स्थान—लता-निकेतन ।

(आश्रम के उपवन में लताओं का एक बड़ा मंडप बना है । उ के बाहर आचार्याजी एक रानी और राजकुमारी से बातें कर रही आचार्याजी की आयु ५० वर्ष पोशाक सफेद धोती और कुरती, मृदु आचार्याजी के पास आती है ।)

आचार्या—मृदुला !

कुसुम—हाँ, माताजी !

आचार्या—**(रानी की तरफ संकेत करके)** ये सोनपुर की रा जी हैं ।

(सोनपुर का नाम सुनकर कुसुम काँप उठती है । वह रानी प्रणाम करती है ।)

आचार्या—**(राजकुमारी की तरफ संकेत करके)** यह इनकी पु हैं । ये अपनी पुत्री के लिये एक सहेली चाहती हैं । बेटी ! मैं तुम्हें इ साथ भेजना चाहती हूँ । जाकर कुछ दिन राजकुमारी के साथ रह राजकुमारी से मैं कुछ देर से बातें कर रही हूँ, इनका स्वभाव ब अच्छा जान पड़ता है । राजमहल भी तुम्हारी शिक्षा के लिए आवश्यक स्थान है, बेटी !

कुसुम—माताजी, मैं तो दीन-दुखियों की सेवा में अपना जी अर्पण करना चाहती हूँ ।

आचार्या—बेटी, राजकुमारी को साथ लेकर तुम दीन-दुखियों सेवा और भी अधिक सफलता के साथ कर सकोगी ।

(कुसुम सिर झुका लेती है)

रानी—**(कुसुम से)** बेटी, राजमहल में चलकर तुम देखोगी कि अच्छी शिक्षा के बिना हमारी दशा दीन-दुखियों से कम शोचनीय नहीं है। राजमहल का सुख हमको खाये जा रहा है। अपनी एकमात्र संतान पद्मावती को मैं ऐसी शिक्षा दिलाना चाहती हूँ, जिससे यह अपनी आत्मा को पतन की ओर जाने से रोक सके। बेटी! आचार्याजी ने तुम्हारी बड़ी प्रशंसा की है। मैं भी तुम्हारे व्यवहार में नम्रता, हृदय में दीन-दुखियों के प्रति दया और नेत्रों में अपार करुणा का भाव देखकर आचार्याजी के प्रति कृतज्ञता के भाव में डूब गई हूँ कि उन्होंने दया करके मेरी पद्मावती के लिए तुम्हारी जैसी देवी चुन दी। तुम बेटी, मेरे साथ चलो। थोड़े ही दिनों में तुम देख लोगी कि मैं पद्मावती से कम प्यार तुम्हारा नहीं करूँगी।

कुसुम—**(आचार्याजी से)** मैं आप से कुछ बातें एकान्त में करना चाहती हूँ।

(रानी और राजकुमारी को वहीं छोड़कर आचार्या उठकर कुसुम के साथ कुछ दूर जाती हैं।)

कुसुम—आप जानती हैं, सोनपुर से मेरा क्या सम्बन्ध है?

आचार्या—अच्छी तरह जानती हूँ और जानकर ही तुमको आदेश करती हूँ कि तुम्हारी सेवा का मुख्य केन्द्र सोनपुर ही है। वहाँ इतना अत्याचार बढ़ रहा है, जिसकी कुछ सीमा नहीं। कल्याणी को उसके पति ने त्याग दिया है। वह सब प्रकार के दुराचारों में पूर्णरूप से लिप्त हो गया है। कल्याणी बड़े संकट में अपने दिन काट रही है। फिर भी हर महीने अपने गहने बेंचकर तुम्हारे लिए खर्च भेजा करती है।

(कुसुम की आँखों से आँसू ढुलक पड़ते हैं)

तुम सोनपुर जाकर राजकुमारी के साथ रहो। राजकुमारी अपने माता-पिता की एकमात्र संतान है। जिसके साथ इसका विवाह होगा,

वही सोनपुर का भावी राजा होगा। राजकुमारी पर तुम अपना प्रभाव रख सकोगी तो उसके द्वारा कभी राज में होनेवाले अत्याचार भी कम करने में तुम समर्थ होगी। जहाँ से अत्याचार प्रारम्भ होता है, वहीं से यदि उसके प्रतीकार का उपाय किया जायगा तो उसमें जल्दी सफलता प्राप्त होगी। पर एक बात का ध्यान हमेशा रखना कि अपना पूर्व परिचय कल्याणी से पूछे बिना किसी को न देना। कल्याणी से भी मिलने की आतुरता न करना। तुमको देखने की अपेक्षा तुम्हारे कार्यों की कीर्त्ति को वह अधिक प्रिय समझेगी, ऐसा उसने लिखा भी है। ईश्वर करे, हमारे आश्रम की सब कन्याएँ कल्याणी जैसी हों।

(कुसुम का हृदय भर आता है।)

आचार्या—अच्छा तो बेटी, तुम तैयार हो जाओ। रानीजी को देरी हो रही है। जाओ बेटी, दुःख से जलता हुआ संसार तुम्हारी सेवा की शीतलता के लिए छटपटा रहा है।

(कुसुम आचार्याजी के पैरों पर सिर रख देती है। आचार्याजी उसे उठाकर छाती से लगा लेती हैं। दोनों रानी के पास आती हैं।)

आचार्या—**(रानी से)** रानीजी, मृदुला को मैं आपके सुपुर्द करती हूँ। आप देखती हैं, संसार के वातावरण से कितना दूर रहकर यह पली है। इसे अनुभव न होने से आपके साथ शिष्टाचार में कभी इससे कोई त्रुटि हो जाय तो क्षमा करती रहियेगा। **(राजकुमारी से)** राजपुत्री! मृदुला तुम्हारी अच्छी सहेली होकर रहे, मैं यह आशीर्वाद देती हूँ।

(राजकुमारी आचार्या को प्रणाम करती है।)

आचार्या—**(कुसुम से)** बेटी! तुम तैयार होकर आओ। हम तुम्हें यहीं से विदा करेंगी। मृदुला! तुम जो चीजें आश्रम से साथ ले जाना चाहो, ले लो।

कुसुम—माताजी, आपके आशीर्वाद और अनंत स्नेह के सिवा मैं और कुछ ले जाना नहीं चाहती। जो वस्त्र मैं पहने हूँ, उतने ही

लेकर मैं जाऊँगी, बाकी मेरी सब चीजें मेरी बहनों को बाँट दी जायँ।

आचार्या—(आश्रम की एक कन्या को बुलाकर) पुत्री! मृदुलाका आश्रम-जीवन आज समाप्त हो रहा है। अब यह संसार में दीन-दुखियों की सेवा के लिए जा रही है। तुम शीघ्र जाकर सब कन्याओं को बुला लाओ और इसे यहीं से विदा करो।

(कन्या जाती है, और थोड़ी ही देर में सबको साथ लेकर आती हैं। कन्यायें एक पंक्ति में खड़ी हो जाती हैं।)

आचार्या—पुत्रियो! मृदुला अब तुमसे अलग हो रही है। इसे एक गीत के साथ विदा करो।

कन्याएँ—(गाती हैं)—

जाओ, जाओ, सहेली! जाओ।
दुख से दग्ध ताप से पीड़ित,
वह जग है चिंता से मूछित,
उस पर दया, प्रेम, करुणा के
सुधा वारि बरसाओ।
जाओ, जाओ, सहेली! जाओ॥
सुनकर चारु चरित्र तुम्हारे,
हों आनन्दित हृदय हमारे,
हम पायें सुख, तुम भूतल पर,
कीर्ति-ध्वजा फहराओ।
जाओ, जाओ, सहेली! जाओ॥
अपना जीवन सफल बनाना,
हमको हे सखि! भूल न जाना,
कहती चलना, आओ मेरे
पद-चिह्नों पर आओ।
जाओ, जाओ, सहेली! जाओ॥

(कुसुम एक-एक करके सब सहेलियों से मिलती है, फिर आचार्या आगे चलती हैं, उनके पीछे रानी, राजकुमारी और कुसुम चलती हैं। कुसुम एक वृक्ष के पास रुक जाती है।)

कुसुम—माताजी, इस वृक्ष को मैंने लगाया था। इसकी सँभाल रखियेगा, यह सूख न जाय।

(वह वृक्ष को आलिंगन करती है और उसकी पत्ती का चुम्बन करती है। रानी के नेत्र भर आते हैं।)

आचार्या—बेटी, आश्रम में तुम्हारे बहुत-से स्मृति-चिह्न हैं; मैं सबकी रक्षा करूँगी। तुमने अपने सरल, पवित्र और विनम्र स्वभाव से मेरे हृदय में स्नेह का जो स्रोत खोल लिया था, उसे फिर शान्त करने में बेटी! मेरा कितना समय लगेगा, मैं अभी कह नहीं सकती। **(फाटक पर पहुँचकर कुसुम के सिर पर हाथ फेरती हुई।)** जाओ बेटी, अपने पवित्र चरित्रसे संसार की मलिनता दूर करो, अपनी सेवा से दुःखों से संतप्त मनुष्य-समाज में सुख और शान्ति की सृष्टि करो; अपनी उज्ज्वल कीर्ति से अपने बड़ों का सिर ऊँचा करो। जाओ बेटी, जाओ, आश्रम का स्मरण रखना; आज तुम्हारे वियोग में सभी आश्रमवासी दुःख का अनुभव कर रहे हैं।

(कुसुम आचार्या को प्रणाम करती है; उसके नेत्रों से अश्रु-प्रवाह जारी है। रानी और राजकुमारी आचार्या से विदा लेती हैं। कुसुम रानी के पीछे-पीछे राजकुमारी के साथ जाती है। चलते-चलते वह कई बार आश्रम की ओर देख लेती है आश्रम की अन्य कन्यायें आँसू पोछती है।)

तीसरा दृश्य

(दस वर्ष बाद)

समय—प्रातःकाल।

स्थान—महाविद्यालय।

(जयंत महाविद्यालय की एक कोठरी में टहल रहा है।)

जयंत—मेरी शिक्षा का समय अब पूरा हो गया। अब मुझे उस दुःख-पीड़ित समाज में जाना है, जो मेरी राह देख रहा है। संसार एक विचित्र पहेली है। उसमें भले-बुरे दोनों तरह के जीव हैं। सोनपुर में जहाँ अनेकों अर्थलोलुप धन-पिशाच हैं, वहाँ पंडित देवदत्त ऐसे परोपकार-परायण सद्गृहस्थ भी हैं, जिन्होंने आज दस वर्षों से मेरी शिक्षा के लिए अनेक कष्ट सहकर धन भेजा और मुझे पढ़ाया-लिखाया। कल वे आये थे और आचार्य के सामने मुझसे यह वचन लेकर मुझे अपने ऋण से उऋण कर गये कि मैं अपनी शिक्षा का सम्पूर्ण लाभ दीन-दुखियों को अर्पण कर दूँ। कैसी मनोहर भावना है! मुझ अनाथ बालक को पालकर, मुझे सैकड़ों मील दूर लाकर, शिक्षा दिलाकर, उन्होंने अपने स्वार्थ की एक भी बात नहीं सोची। उन्होंने यह नहीं सोचा कि मैं इस शिक्षा से धन कमाकर उनकी वृद्धावस्था की नाव खेऊँ! कैसी महान् आत्मा है! मनुष्य स्वयं तो दूसरों की सेवाओं का एक प्रत्यक्ष परिणाम है। किसी ने जन्म दिया, किसी ने पालन-पोषण कर दिया, किसी ने अन्न उत्पन्न कर दिया, किसी ने वस्त्र बुन दिये, किसी ने शिक्षा दी, किसी ने धन दिया, इस प्रकार बहुतों की सेवायें इस शरीर के निर्माण में सफल हुई हैं। इस पर तो समस्त मानव-जाति का ऋण है। यदि मैं इस शरीर की सारी शक्तियों को मानव-जाति को फिर लौटा दूँ, तभी मैं ईश्वर और अपनी आत्मा के सामने सच्चा प्रमाणित होऊँगा। (यकायक सोचकर) आचार्य आज कृपा करके स्थान पर ही मुझे आशीर्वाद देने आनेवाले हैं। वह आ रहे हैं।

(आचार्य का प्रवेश)

आचार्य—पुत्र जयंत !

जयंत—(**प्रणाम करके**) हाँ, गुरुवर्य !

आचार्य—आज विद्यालय से तुम्हारे जाने का दिन है। अपने जीवन का लक्ष्य तो तुमने समझ ही लिया है।

जयंत—हाँ गुरुवर, दीन-दुखियों की सेवा करना।

आचार्य—दीन-दुखियों की सेवा तुम कैसे करोगे ?

जयंत—बुद्धि और बल दोनों से।

आचार्य—आवेश में आकर किसी शक्ति का दुरुपयोग न करना।

जयंत—स्वीकार है, गुरुवर !

आचार्य—तुम स्वप्न देखना जानते हो ?

जयत—आपने मुझे स्वप्न को सत्य कर दिखाने की शिक्षा दी है, गुरुवर !

आचार्य—अच्छा पुत्र ! सब कार्य सर्वसाधारण के हित की कामना से प्रेम-पूर्वक करना। कठोर उपायों का अवलम्बन आवश्यकता पड़ने पर ले सकते हो; पर परिणाम की प्राप्ति पर हृदय को फिर पहले जैसा प्रेम-पूर्ण कर लेना। किसी से द्वेष नहीं रखना। सेवा ही इस मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। सेवा ही शिक्षा की महिमा है; ऊँचे-ऊँचे विचार और धन का बल नहीं। सूर्य को हम इसी से आदर की दृष्टि से देखते हैं कि वह प्रकाश देता है; इसलिये नहीं कि बहुत ऊँचाई पर है।

जयंत—सत्य है, गुरुवर !

आचार्य—जाओ पुत्र ! जीवन-रण में विजय प्राप्त करो।

(जयंत प्रणाम करता है; आचार्य सिर पर हाथ फेरकर जाते हैं।)

जयंत—(**आप ही आप**) प्रेम-पूर्वक और आवश्यकता पड़ने पर कठोर उपायों से भी सर्वसाधारण के हित का काम करना, यह बड़ा जटिल विषय है। क्या कठोरता में भी प्रेम रह सकता है ? (**सोचकर**)

रह सकता है। जैसे वैद्य की कड़वी दवा में और उच्छृङ्खल बालक को राह पर लाने के लिए पिता के थप्पड़ में। (उत्साहित होकर) चलो जयन्त, संसार में चलो। मेरी बड़ी लालसा है कि मेरे जीवन का एक-एक पल जनता के जीवन में जाग उठे; प्रत्येक व्यक्ति के मन, वचन, कर्म, ध्यान, श्रवण और भाषण में मेरा वास हो। मैं जनता के अंदर माला में तागे की तरह पिरो उठूँ। (उत्तेजित होकर) मुझे समाज में फैले हुए अत्याचारों से लड़ना है। मैं बारूद के ढेर में अग्नि की तरह पहुँचूँ; समाज का एक-एक कण मेरी आग से प्रज्ज्वलित हो उठे। मुझे सूर्य अपने प्रचण्ड ताप से नहीं रोक सकता; क्योंकि कर्त्तव्य का छत्र मेरे सिर पर है। फूल अपनी मुसुकान से मुझे रास्ते में नहीं ठहरा सकता; क्योंकि लाखों दीन-दुखियों के आँसू भरे नेत्र मेरी दृष्टि में पंक्तिबद्ध खड़े हैं। अग्नि अपनी ज्वाला से मुझे डरा नहीं सकती; क्योंकि मेरे अन्तर की ज्वाला उससे कहीं अधिक प्रचंड है। पवन अपने कोमल स्पर्श से मुझे आलसी नहीं बना सकता; क्योंकि मैं बहुत कठोर हूँ। क्या चन्द्रमा अपनी स्निग्ध चन्द्रिका में मुझे बहका लेगा? कभी नहीं। मेरी आँखों का एक-एक कोना माँ और कुसुम के विषाद-पूर्ण चेहरे से भरा हुआ है; चन्द्रमा के लिए उसमें स्थान कहाँ है? पक्षियों का कलरव! दूर हो; मेरे कानों में उत्पीड़ित समाज का आर्त्तनाद प्रलयकाल के विक्षुब्ध समुद्र की तरह हाहाकार कर रहा है। वह देखो, वह देखो, स्वार्थियों के मायाजाल में जकड़ा हुआ संसार मेरी ओर कैसी कातर दृष्टि से देख रहा है। वह देखो, रक्त चूसनेवाले मालदारों के चंगुल में पड़े हुए वे मजदूर मेरी भुजाओं का बल माँग रहे हैं। हाय, हाय, वे किसान अन्याय से पीड़ित होकर मुझे पुकार रहे हैं। मेरे पैर! मुझे वहाँ ले चलो। मेरे हृदय! तुम मुझे जलती हुई आग में खड़े रखना, मैंने आज दस बरसों से तुम्हें वीरों की अनन्त कथाओं के झूले में झुलाकर पाला-पोसा है। मेरे सिर! तुम पण्डित देवदत्त जैसे सत्पुरुषों की धूलि को अपने ऊपर धारण करके नम्रता और गर्व से सीधे खड़े रहना। मेरी जीभ! तुम्हारे एक-एक

शब्द से अत्याचारियों के मस्तिष्क की अभिमानिनी नसें काँप उठें। मेरे शब्द ! तुम समाज के सुन्न हुए अंग में बिजली की तरह प्रवेश करो। चलो, चलो, जयन्त, तुम्हें संसार के दुःख, अत्याचार, छल, कपट, लड़ने के लिए बुला रहे हैं। वह देखो, कुसुम की तरह हजारों बहनें धनियों के इन्द्रिय-सुख की भट्टी में झोंकी जा रही हैं। आता हूँ, कुसुम ! आता हूँ। दस वर्ष पहले हृदय में आग की एक चिनगारी पैदा हुई थी; मैंने उसे बड़ी हिफाजत से जिलाया है। अब वह धायँ-धायँ करके जल रही है। उसी में सब अत्याचारियों को झोंक दूँगा, बहन ! आता हूँ।

(जाता है)

— —

चौथा दृश्य

छः महीने के बाद

समय—पहर भर दिन चढ़े।

स्थान—सोनपुर का चौक।

(एक डुग्गीवाले का प्रवेश)

डुग्गीवाला—दुःख और अत्याचार से पीड़ित लोगो ! तुम्हारे लिए एक वीर युवक ने अपना जीवन-दान किया है। वह एक घण्टे बाद चौक में आकर तुम लोगों से मिलना चाहता है। उस समय सब लोग वहाँ एकत्र रहो।

(डुग्गीवाला घोषणा करता चला जाता है)

(लोगों की बड़ी भीड़ जमा है। सब लोग कौतूहल से इधर-उधर घूम रहे हैं और तरह-तरह की बातें कर रहे हैं। इतने में एक ओर कुछ हलचल-सी दिखाई देती है। चौक के बीच में एक विशाल वृक्ष के चबूतरे पर एक युवक खड़ा होता है।)

एक आदमी—अहा ! यही दीन-दुखियों और अत्याचार-पीड़ितों की सहायता करने आया है !

दूसरा—कैसा दिव्य इसका रूप है ! यह तो कोई देवता है। इसके चेहरे से तो ज्योति निकल रही है। इसे लोग डाकू क्यों कहते हैं ?

तीसरा—कैसा सुंदर शरीर इसने पाया है !

चौथा—इसके भुजदण्ड तो बड़े-बड़े कसरती पहलवानों से भी बलवान जान पड़ते हैं।

पाँचवाँ—इसको देखकर इस राज के दुष्ट और दुराचारी लोग काँपने लगे हैं।

छठा—जरा ध्यान से सुनो। वह कुछ कह रहा है।

(सन्नाटा)

युवक—हे गरीब श्रेणी के लोगो ! मैं आज छः महीने से तुम लोगों के अन्दर हूँ ; तुममें से शायद मुझे कोई न जानता होगा; पर मैं तुम सबको जानता हूँ; क्योंकि मैं अबतक तुम लोगों को अच्छी तरह जानने ही का प्रयत्न करता रहा हूँ। मुझे विश्वास हो गया है कि तुम लोग एक विचित्र प्रकार की गुलामी में इस तरह जकड़े हुए हो, जो प्रतिक्षण तुमको सर्वनाश की ओर ले जा रही है। अन्याय और अत्याचार के भयङ्कर परिणामों को भोगते रहने पर भी तुम उनके कारणों को देख नहीं पाते हो; क्योंकि पेट की चिंता से तुमको सिर उठाने का अवकाश ही नहीं मिलने दिया जाता। तुम्हारे अंदर की आग बुझते-बुझते बिलकुल बुझ गई है।

(भीड़ में से आवाज आती है)

आवाज—सुनो, सुनो, अच्छी बातें कहता है।

मैं भी तुम्हारी तरह गरीब हूँ। गरीब होना पूर्वजन्म के किसी पाप का परिणाम नहीं है, जैसा तुमको बताया गया है। गरीब होना ईश्वर की अपार कृपा है; क्योंकि गरीब के लड़के को अपनी मनुष्यता के विकास

का जितना लम्बा-चौड़ा मैदान मिलता है, उतना अमीर के लड़के को नहीं मिलता। वह जिन्दगी के बीच से चलना शुरू करता है।

आवाज—ठीक है। बहुत ठीक है।

अमीर के लड़के को पिता का कमाया हुआ धन मिलता है, साथ ही पैसे से किस प्रकार जीवन नष्ट किया जाता है, इसकी शिक्षा भी मिलती है।

आवाज—बहुत ठीक, हम खूब समझ रहे हैं।

धनी लोग यदि अपने ही को नष्ट कर लें तो किसी हद तक सहा भी जा सकता है; क्योंकि उनको अपने शरीर पर पूरा अधिकार है। पर अपना सुख वे गरीबों को पैसा देकर खरीदते हैं, स्वय उत्पन्न नहीं करते; उनके लिये कब तक गरीब लोग सुख उत्पन्न करते रहेंगे?

आवाज—बोलते चलो; तुम्हारी बातें बड़ी प्रिय लग रही हैं।

किसान कितना मेहनत करता है; मजदूर और जुलाहे सुंदर-कपड़े तैयार करते हैं, सुंदर महल खड़ा कर देते हैं, पर क्या वे सुखी हैं?

आवाज—कहाँ सुखी हैं?

तुमको अपनी वर्तमान अवस्था पर विचार करना चाहिये। तुम्हारे अन्दर जो अपराध फैले हुये हैं, समाज के अंग में रोग के जो कीड़े लग गये हैं, किस प्रकार तुम लोग अपने एक-एक लंबे जीवन के लिये पेट की आग में जलने को डाल दिये गये हो, इन सब बातों पर क्या तुम्हें एक बार भी गौर नहीं करना चाहिये?

आवाज—जरूर करेंगे।

क्या तुम नहीं देखते कि धनी लोग पैसे का लोभ देकर कितनी गरीबिनों का सतीत्व हरण करते हैं?

आवाज—रोज देखते हैं।

क्या तुम नहीं देखते कि धनी लोग ही गरमी और सुजाक ऐसे भयानक रोगों को अपने शरीर में उत्पन्न करके तुम्हारे घरों में फैलाते हैं?

आवाज—वही तो फैलाते ही हैं।

क्या तुम नहीं देखते कि तुमसे अधिक से अधिक परिश्रम कराके भी तुमको वे लाभ का उतना ही अंश देते हैं, जिससे तुम रात भर जीते रहो और रोज सबेरा होते ही काम पर पहुँच जाओ और दिनभर अमीरों के लिये सुख तैयार करो ?

आवाज—तुम्हारी बातें बड़ी प्रिय लग रही हैं ।

क्या तुम मूर्ख हो ?

आवाज—हरिगिज नहीं ।

तो तुम एकत्र होकर अपने दुःखों पर विचार करो और उनके दूर करने का उपाय करो ।

आवाज—उपाय भी तुम्हीं बताओ ।

उपाय यही है कि पुराने जमाने से चली आती हुई मानसिक गुलामी से अपने को मुक्त करो । कोई आदमी इसीलिये अच्छा नहीं कहा जाना चाहिये कि उसके पास धन है; बल्कि इसलिये अच्छा कहा जाना चाहिये कि वह अपनी शक्ति से अन्य साधारण आदमियों की अपेक्षा समाज की अधिक सेवा करता है । वह प्रयत्न करके समाज में सुख और शान्ति बढ़ाने के लिये अच्छे गुणों को बसाता है और दुर्गुणों को एक-एक करके निकालता रहता है ।

आवाज—अब तो तुम स्वर्ग की बातें करने लगे ।

मित्रों, तुम थोड़ा भी ध्यान दोगे तो इस पृथ्वी ही पर स्वर्ग आ जायगा । एक धनी जो अपाहिज की तरह बैठा रहता है; मुफ्त का धन जमाकर वह उससे अपने शरीर के सुख के नाम पर समाज में रोग, अत्याचार, गरीबी और पापाचार भरता है, उससे तो वह किसान, जो हल जोत रहा है, देश के लिये अधिक कीमती है । क्योंकि वह अपनी शक्ति लगाकर मिट्टी को सोना बना रहा है, और जगत् को लाभ पहुँचाता है ।

आवाज—सत्य है सत्य ।

मैं दो बातें तुम्हारे नवयुवकों से भी करना चाहता हूँ । नवयुवको,

तुममें से कुछ ने शिक्षा पाई है और कुछ पा रहे हैं; क्या तुम भूल गये कि तुम्हारी शिक्षा के दिनों में तुम्हारे लिये अन्न-वस्त्र जुटाने में कितने आदमी लगे थे ? क्या तुम भूल गये कि जिस विद्यालय के सुन्दर मकान में तुम मनुष्य बनने की कला सीखते हो, उसके बनाने में कितने मजदूरों ने अपनी झुकी हुई पीठ पर भारी बोझा उठाया था और खाली पेट रहकर उन्होंने तुम्हारे लिए विद्यालय, अजायबघर और छात्रालय बनाये थे ?

आवाज—तुम तो स्वर्ग ही की बात करते हो।

तुममें स दो-चार कवि भी हैं, दो-चार चित्रकार भी हैं, कुछ अध्यापक भी हैं, क्या तुम लोग उन गरीबों को उनके दान का बदला चुका चुके ? जिसे उन्होंने तुम्हारे कल्याण के लिए अपना और अपने बाल-बच्चों का रक्त निचोड़कर दिया था।

आवाज—कौन चुकाता है ?

शायद तुम लोग समझते हो कि सारी दुनिया इसी तरह के जञ्जाल में फँसी है, इससे निकलने का रास्ता ही नहीं। पर प्रश्न तो यह है कि तुम निकलना चाहते भी हो या नहीं ?

आवाज—जरूर निकलना चाहते हैं।

निकलनेवाले को कोई रोक नहीं सकता। तुम सोचो तो सही, बुद्धि में, बल में क्या तुम किसी से हीन हो ?

आवाज—बिलकुल नहीं।

तुम सड़े-गले घरों में जानवरों की तरह रहते हो। सरदी, गरमी से बचने के लिए तुम्हारे पास कोई भी साधन नहीं। मालदार आदमी जो खाना अपने कुत्ते को देता है, वैसा तुमको किसी त्योहार के दिन भी नसीब नहीं होता, भगवान् की सृष्टि में ऐसा अन्याय किसने फैला रक्खा है ! एक दिन सोचो न !

आवाज—भाई, तुम बड़े मर्म की बात कहते हो।

अच्छा, अब अधिक आहार न दूँगा, तुम हजम न कर सकोगे।

(युवक चबूतरे से उतरकर एक तरफ जाता है। लोग तरह-तरह की बातें करने लगते हैं।)

एक श्रोता—इसे डाकू कौन कहता है? वही कहते होंगे जो ठग, लम्पट और अत्याचारी होंगे।

दूसरा श्रोता—अब बदमाशों को आटा-दाल का भाव मालूम हो गया होगा।

तीसरा श्रोता—बड़ा निडर है।

एक गरीब मजदूर—हमारे तो भैया! राम आ गये। अपनी नींद सोता हूँ, अपनी नींद जागता हूँ, न चोर का भय है, न डाकू का।

एक किसान—गाँवों में तो राम-राज्य हो गया।

पाँचवाँ दृश्य

समय—दोपहर के बाद।

स्थान—आमों का एक बाग।

(गाँव के बाहर जरा दूरी पर, सुनसान स्थान में एक बाग है, जिसमें आम के बड़े पुराने और घनी छायावाले पेड़ खड़े हैं। एक पेड़ की जड़ के पास एक बुड्ढा आदमी बैठकर, धोती की फेंट से कुछ नोट निकालकर जमीन पर रखकर, अलग-अलग गिन रहा है। दो मोटे-ताजे आदमी हाथ में लाठियाँ लिये, पीछे से आते हैं और उनमें से एक झपटकर कुल नोट समेटकर उठा लेता है।)

बु०—(जोर से चिल्लाता है) दौड़ो, दौड़ो, डाका पड़ा, डाका।

दू० आ०—(लाठी का सिरा उसके मुँह के आगे करके) चुप रह, चिल्लायेगा तो मुँह में लाठी डाल दूँगा। **(पहले आदमी से)** तुम भाग चलो; दूर पहुँच जाओगे, तब मैं इसे छोड़ूँगा।

(पहला आदमी लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ जाता है। पीछे से जयन्त का प्रवेश। जयन्त के हाथ में भी लाठी है। वह धोती कुरता पहने और सिर पर अँगौछा लपेटे है।)

जयन्त—(कड़ककर) कौन हो, तुम लोग ?

दू० आ०—(कड़ककर) तुम कौन हो ? जाओ, अपनी राह लगो।

बुड्ढा—देखो, भैया ! मेरा कुल धन छीनकर वह डाकू भागा जा रहा है। (जयन्त दूसरे आदमी की कलाई कसकर पकड़ता है। वह छुड़ाने की कोशिश करता है; पर छूटती नहीं।)

जयन्त—(भागते हुए आदमी से) ठहरो, कहाँ भागे जा रहे हो ! (वह और तेजी से चलने लगता है। जयन्त जोर से चिल्लाकर कहता है।) गाँव के नौजवानो ! दौड़ो, दौड़ो, डाकू पश्चिम की ओर भागा जा रहा है। पकड़ लो। (आस पास के गाँवों से आवाज आती है।)

आवाज—कहाँ है ? किधर गया ?

जयन्त—पश्चिम की ओर देखो, खेतों में भागा जा रहा है।

आवाज—पकड़ो, पकड़ो, वह जा रहा है।

दू० आ०—(जयन्त से) तुम मुझे छोड़ दो। तुम उस धन में से जितना चाहो, मैं दे दूँगा।

जयंत—मैं रुपया कमाने नहीं निकला हूँ। मैं गरीबों और निर्बलों की रक्षा करने का काम करता हूँ। मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम्हारी शिकायतें मैं बहुत सुनता रहा हूँ। आज पकड़ में आ गये हो।

दू० आ०—मैं जानता हूँ, तुम हम लोगों के पीछे पड़े हो। मैं भी तुम्हारी खोज में था। आज मिल गये हो, मर्द हो तो हाथ छोड़ दो; और आओ निपट लें।

जयंत—तुम मर्द के बच्चे हो तो बताओ, छोड़ दूँ तो भागोगे तो नहीं ?

दू० आ०—मैं मर्द हूँ। भागूँगा नहीं।

(जयंत उसकी कलाई छोड़ देता है। उसी वक्त गाँव के नौजवान पहले आदमी को पकड़कर ले आते हैं।)

जयंत—(नौजवानों से) उससे नोट लेकर उस बुड्ढे को दे दो और उसे पकड़कर बैठा रक्खो।

(गाँव के और बहुत से बुड्ढे, नौजवान, लड़के-लड़कियाँ, स्त्री-पुरुष हल्ला सुनकर जमा हो आते हैं और घेरकर खड़े-खड़े तमाशा देखने लगते हैं। जयंत और दूसरा आदमी अपनी धोतियाँ कसकर आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। फिर दोनों भिड़ जाते हैं। देर तक दोनों ओर से दाँव-पेंच चलते हैं। दोनों पूरी ताकत के साथ एक दूसरे को गिरा देना चाहते हैं। अत में दूसरे आदमी का दम टूट जाता है और जयंत उसे पटककर उसकी छाती पर चढ़ बैठता है।)

दू० आ०—अब छोड़ दो। तुममें तो दैत्य-जैसा बल है। मैं हार मानता हूँ।

(जयंत उठकर खड़ा हो जाता है। दूसरा आदमी भी उठकर शरीर पोंछने लगता है। भीड़ के आदमी हर्षनाद करने लगते हैं। कुछ आदमी जयंत का बदन पोंछने लगते हैं, कुछ पंखा लाकर हाँकने लगते हैं। एक आदमी खाट उठा लाता है। एक आदमी दूध, चीनी और गिलास लाता है। नौजवानों में बड़ा उत्साह दिखाई पड़ता है। जयंत कपड़े पहनकर खाट पर बैठ जाता है। दूसरा आदमी भी उसके सामने जमीन पर बैठ जाता है। एक आदमी गिलास में दूध भरकर जयंत को देता है। जयंत उसे दूसरे आदमी की ओर बढ़ाता है।)

जयंत—(दूसरे आदमी से) लो, पहले तुम पिओ। तुम बहादुर हो। मैं तुम्हारी वीरता का आदर करता हूँ। तुम्हारे शरीर में भी बड़ा बल है। खेद है, भगवान् की दी हुई इस ताकत को तुम दूसरों को दुःख देने में लगाते हो।

दू० आदमी—(मुखाकृति से लज्जा का भाव प्रकट करते हुए) आपका यह प्रसाद मैं लिये लेता हूँ। मुझे अपने बल पर बड़ा घमंड था, आज चूर-चूर हो गया।

(गिलास लेकर पीता है)

जयंत—(एक गृहस्थ से) एक दर्पण मँगाओ। (गृहस्थ दौड़कर दर्पण लाता है और जयंत को देता है। दूसरा आदमी दूध पीकर गिलास रख देता है। तब जयंत उसके हाथ में दर्पण पकड़ा देता है।)

जयंत—दर्पण में अपना मुँह देखो। क्या डाकू का-सा तुम्हारा चेहरा है? तुम तो किसी अच्छे वंश के और अच्छे माता-पिता की संतान जान पड़ते हो। तुम्हारे चेहरे में तो भगवान् की झलक दिखाई पड़ती है।

(दूसरे आदमी की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है। वह जयंत के पैरों पर गिर पड़ता है।)

दू० आ०—(सिर उठाकर हाथ जोड़कर) मैं अच्छे खान्दान का और अच्छे माँ-बाप का लड़का हूँ। मुझे अपने काम पर बड़ी लज्जा आ रही है। मुझे डाका डालने की जरूरत भी नहीं है। कमजोरों पर अपना बल दिखाने और लोगों में डर पैदा करके खुश होने की एक आदत-सी पड़ गई है। यह सब कुसंगति का दंड है। आप क्षमा कीजिये। मेरी आँखें खुल गई हैं। आज से मैं यह काम छोड़ता हूँ।

जयंत—जाओ, मैं तुम्हें भी छोड़ता हूँ। बहादुर आदमी हो, बात के भी धनी होगे। (एक नौजवान से) उस डाकू को यहाँ लाओ।

(नौजवान उस डाकू को पकड़कर सामने लाकर बैठा देता है।)

जयंत—तुम भी तो हट्टे-कट्टे हो! तुम कमजोरों को क्यों सताते हो?

प० आ०—सरकार! मैं पाँच बार जेल हो आया हूँ। अब बाहर रहना अच्छा ही नहीं लगता। चोरी करके और डाका डालकर पकड़ में न आया तो धन हाथ आ जाता है और पकड़ा गया तो घर से अच्छा जेलखाना मिल जाता है।

जयंत—(आप ही आप) सच है, घरों में गरीबी इतनी बढ़ गई है कि घर से ज्यादा सुख जेल में हो गया है और हमारा नैतिक पतन भी

इतना हो गया है कि जेल जाने में लज्जा नहीं लगती। अच्छा, अब तुम्हारे साथ क्या सलूक किया जाय?

प० आ०—जो आप मुनासिब समझें।

जयंत—अब तो डाका नहीं डालोगे?

प० आ०—मैं कान पकड़ता हूँ। अब किसी का कुछ नहीं छुऊँगा। आपसे तो अब कोई बच ही नहीं सकता। आप तो भगवान् की तरह सब जगह मौजूद मिलते हैं।

जयंत—अच्छी बात है। अब जब कभी चोरी करने या डाका डालने का मन चले तो समझ रखना, मैं तुम्हारे सिर ही पर खड़ा हूँ। **(नौजवान से)** अच्छा, इसे भी छोड़ दो। **(बुड्ढे से)** तुम्हारा सब रुपया मिल गया न?

बुड्ढा—हाँ, दीनदयाल, सब मिल गया।

जयंत—(नौजवानों से) तुम लोग भी अपने-अपने गाँव में ऐसी ही चौकसी रक्खो। गाँव-गाँव में अखाड़े खोलो, कुश्ती लड़ो, लाठी चलाना सीखो, किसी निर्बल पर बलवान् का अत्याचार न होने दो। प्रत्येक गाँव में नौजवानों का एक दल होना चाहिए, जो किसी की पुकार सुनते ही हाथ का काम छोड़कर उसकी मदद को पहुँच जाय। बीस गाँवों में मैंने पचास अखाड़े खुलवाये हैं, उनमें अच्छे-अच्छे पट्ठे तैयार हो रहे हैं।

एक नौ०—हम लोग अपने गाँव में स्वराज्य पाने का उत्सव मनाना चाहते हैं। आप भी उसमें शामिल हों।

जयंत—जरूर होऊँगा। दङ्गल भी होगा न?

एक नौ०—जरूर। आप अपने अखाड़े के पहलवानों को भी लाइएगा।

जयंत—जरूर लाऊँगा।

एक किसान—आपने दूध नहीं पिया?

जयंत—किसी कमजोर बच्चे को पिला दो। मेरा दूध तो वह खुशी

ही है, जो आज नौजवानों को देखकर हो रही है। अच्छा, अब सब लोग अपने-अपने काम पर जाओ। चोरों-डाकुओं से निर्भय होकर रहो। मैं रात और दिन घूमता ही रहता हूँ। खूब सुख की नींद सोओ। (सब 'भारत माता की जय' बोलकर जाते हैं। दोनों डाकू भी प्रणाम करके जाते हैं। जयंत भी एक ओर को चला जाता है।)

छठा दृश्य

समय--रात का पहला पहर।

स्थान--एक किसान की बैठक।

(बैठक में गाँव के सब श्रेणी के लोग जमा हैं। रामायण गाया जा रहा है। एक आदमी ढोलक बजा रहा है। दूसरा मजीरा। एक चौकी पर लालटेन जल रही है। गानेवाले चार-चार की दो टोलियों में बँट गये हैं और स्वर से रामायण गा रहे हैं। जयन्त का प्रवेश। जयंत को देखकर गाना बंद करके सब खड़े हो जाते हैं, और चेहरे से हर्ष प्रकट करते हैं। जयंत उस जमाव में एक वृद्ध के पास बैठ जाता है।)

जयन्त—गाते रहो, मैं तो सुनने ही आया हूँ। कई गाँवों में हो आया। सब में रामायण हो रहा है। गाओ, क्या गा रहे हो?

एक गानेवाला—समुद्र-तट पर जामवंत, अंगद, हनुमान आदि पहुँचे हैं। लंका जाने की बात हो रही है। सुनिए—

(स्वर ताल से गाते हैं।)

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना।
पवन तनय बल पवन समाना। बुधि विवेक विज्ञान निधाना।
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं।
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयेउ पर्वताकारा।
कनक बरन तन तेज विराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा।

सिंहनाद करि बारहिं बारा। लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा।
जामवंत मैं पूछउँ तोही। उचित सिखावनु दीजहु मोही।

जयन्त—बस, समझ लिया न? हनुमान में बल, बुद्धि, विवेक, विज्ञान सभी गुण थे, पर उनको उनका गर्व नहीं था, इससे वे सोये हुए से थे। जामवंत ने जब याद दिलाई, तब मानो सब गुण एक साथ ही जाग उठे। फिर तो हनुमान में तेज आ गया। और उन्होंने सिंहनाद किया और कहा—मैं समुद्र को तो खेलवाड़ की तरह नाँघ जाऊँगा। अब विवेक आगे आता है। जामवंत उस मण्डली में सब से वृद्ध थे। वृद्ध का आदर होने ही से काम में सफलता मिलती है। हनुमान जामवन्त से पूछते हैं कि क्या करना होगा, मुझे बताओ। तुम लोगों में भी बल, बुद्धि और विवेक है। उनको जगाओ और अपने घरों से और गाँव से गरीबी, दुराचार, अत्याचार, कला, द्वेष और मिथ्याभिमान को निकाल बाहर करो। निर्भय होकर खेती करो, खूब अन्न उपजाओ; पुत्रों को स्वावलम्बी और सदाचारी बनाओ, दान-दुखियों की सहायता करो, तुम भी दुःख-रूपी सागर को तैरकर पार हो जाओगे। हनुमान में बल और बुद्धि दोनों थे। तभी सुरसा ने परीक्षा लेकर कहा कि तुम राम-काज करने में सफल होगे। अतएव बल और बुद्धि दोनों बढ़ाओ। याद कर लो—बलवान बनो, मतिमान बनो। गुणवान बनो, हनुमान बनो। **(लोग रटने लगते हैं।)**

एक श्रोता—आपकी कृपा से हम लोग दुःखों से पार हो रहे हैं। रामायण के नित्य के पाठ से एक बड़ा लाभ तो यह हो रहा है कि गाँव के सभी छोटे-बड़े मिलकर पास-पास बैठने लगे हैं; और इसके परिणाम से मुकदमेबाजी गाँव में बिलकुल ही नहीं रह गई है।

जयंत—यह सच है। मैंने भी जाँच करके पता लगा लिया है, आस-पास के बीस-बाईस गाँवों में, जहाँ प्रतिदिन रामायण का गान होता है, मुकदमेबाजी का नाम तक मिट गया है। मामूली झगड़े होते हैं, वे पंचायतों में बड़ी सरलता से निपट जाते हैं।

दूसरा श्रोता—हमारी फसलें भी अच्छी होने लगी हैं। अब हमारे गाँव में कोई भूखा नहीं सोता।

जयन्त—क्योंकि सबका मन निर्भय हो गया है, इससे हरएक व्यक्ति निर्भय होकर अपने काम को सचाई और मुस्तैदी से करने लगा है।

तीसरा श्रोता—हमारे गाँव में अब कई अखाड़े खुल गये हैं, जिनमें अच्छे-अच्छे पट्ठे तैयार हो रहे हैं। नाग पंचमी के दिन आकर देखिये।

जयंत—(**प्रसन्न होकर**) देखूँगा।

चौथा श्रोता—चोरी डाके तो अब कहीं सुनाई ही नहीं पड़ते।

जयंत—समूहे शक्तिः। शक्ति तो समूह में रहती है। डाकुओं का समूह बनता है, तभी उनमें शक्ति आती है। अब भले आदमियों के बड़े-बड़े समूह गाँव-गाँव में बन गये तो बुरों के छोटे समूह तो लुप्त हो ही जायँगे।

एक वृद्ध—भगवान् ने आपको कहाँ से भेज दिया? आपके बताये मार्ग पर चलकर हम लोग तो बहुत सुखी हैं।

जयन्त—सुख और दुःख, शत्रु और मित्र सब मनुष्य के अंतर में होते हैं; बाहर तो उनका प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। रामायण की कृपा से अब आप लोग अन्तर्मुखी हो रहे हैं और अपने सुख-दुःख को स्वयं पहचानने लगे हैं।

एक शिक्षित—किन्तु इसका श्रेय तो आपही को है।

जयंत—भगवान् को है। मनुष्य तो भगवान् के हाथ का चिमटा है। उससे वह जलेबियाँ भी काढ़ता है और मोटी रोटी भी सेंकता है; चिमटे को क्या अभिमान? और क्या ग्लानि? अच्छा, अब मैं दूसरे गाँव को जाता हूँ।

(सब उठकर खड़े होते हैं, और जयंत का अभिवादन करते हैं। जयंत जाता है। सब लोग भी जाते हैं।)

सातवाँ दृश्य

समय--दिन का तीसरा पहर।

स्थान—जंगल में जयन्त की झोपड़ी के सामने का मैदान।

(मैदान में रामजन्म का उत्सव मनाया जा रहा है। दूर-दूर के गाँवों के स्त्री-पुरुष, लड़के-लड़कियां उत्सव में भाग लेने आये हैं। कुश्ती लड़नेवाले, रामायण गानेवाले, अपने साज-सामान के साथ जातीय गीत गानेवाले और नृत्य करनेवाले, विद्यार्थी, अध्यापक, मजदूर आदि प्रायः सभी पेशों और कलाओं के लोग जमा हैं। एक चबूतरे पर जयंत अपने साथी नौजवानों के साथ बैठा हैं। उसके सामने उत्सव मनानेवालों के लिये जमीन खाली छोड़ दी गई।)

जयंत--अच्छा, पहले रामायण का गान होगा। एक दोहे से अधिक न हो, ताकि सबको समय मिले।

(गानेवाले चार-चार की टोली बनाकर ढोलक और मजीरे के साथ बैठ जाते हैं, और स्वर-ताल से गाते हैं।)

रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका।
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा।
अल्प मृत्यु नहिँ कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी।
सब उदार सब पर उपकारी। एक नारिव्रत रत सब झारी।
ससि सम्पन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ सतजुग कै करनी।
हरषित रहहिं नगर के लोगा। करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा।
सुमन बाटिका सबहिं लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई।
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।

बिधु महि पूर मयूखन्हि, रवि तप जेतनहि काज।
माँगे बारिद देहि जल, रामचंद्र के राज॥

(गानेवाले गाना बंद करते हैं)

जयंत—ऐसा ही रामराज्य अपने यहाँ भी होना चाहिये। अब कोई विद्यार्थी संस्कृत का एक श्लोक सुनाये।

एक विद्यार्थी—(स्वर से पढ़ता है।)

वाञ्छा सज्जन संगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता।
विद्यायां व्यसनं स्वयोषितरतिः लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिश्चक्रिणि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले।
येऽप्येते निवसन्ति निर्मल गुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः।

जयन्त—(प्रसन्न होकर) श्लोक भी अच्छा है, और तुम्हारा स्वर भी अच्छा है। अच्छा, अब कोई स्वर से एक सवैया सुनाओ।

एक ग्रामीण—(गाकर सुनाता है)

भौंह कमान सँधान सुढान जे नारि बिलोकनि बान तें बाँचे।
कोप कृसानु गुमान अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे।
लोभ सबै नटके बस ह्वै कपि ज्यों जग में बहु नाच न नाचे।
नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेई रघुवीर के सेवक साँचे।

जयन्त—सच है। (एक एकतारावाले भिखमंगे की ओर देखकर) अच्छा, भाई अब तुम कुछ सुनाओ।

भिखमंगा—(एकतारा टुनकाकर गाता है।)

मोरे मालिक दीनदयाल, सोच मन काहे क करी।
साईं इतना दीजिये, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।
सोच मन काहे क करी॥

जयंत—अच्छा; अब चमार भाई अपने जातीय गीत गाकर सुनायेंगे और नाचकर भी दिखायेंगे।

(चमारों की मंडली, जिसमें सरदार, दो छोकड़े, एक मृदंगवाला और एक करिंगा थे, साज-बाज के साथ सामने आती है। छोकड़े गाते और नाचते हैं, करिंगा सींग बजा दिया करता है।)

छोकड़े—(गाते हैं)

चितै दे मेरी ओर,
दया की एक कोर।
निर्धन गिरा पहाड़ से, कोई न पूछी बात।
साहूकार के काँटा गड़िगा, टूटि परा संसार।
चितै दे मेरी ओर॥
जे गरीब पर हित करें, ते रहीम बड़ लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग।
चितै दे मोरी ओर॥

(इसके बाद छोकड़े नाचते हैं और उनका जातीय बाजा बजता है।)

जयंत—यह नाच तो बहुत कला-पूर्ण है। इसमें कुछ और संशोधन करने की जरूरत है।

(नाच समाप्त होने पर करिंगा कुछ सोचता हुआ इधर-उधर घूमने लगता है। सरदार जूते के तल्ले से, जो उसके हाथ में होता है, करिंगे की पीठ पर कपड़े में सिले हुए चमड़े पर जोर से मारता है।)

सरदार—अबे, क्या सोच रहा है?

करिंगा—सोच रहा हूँ कि मेरे गाँव में एक धनी ने साठ वर्ष की उम्र में सोलह वर्ष की एक जवान और खूबसूरत लड़की खरीदकर ब्याह ली है। अब गाँव के रँड़ुओं, अँड़ुओं, भँड़ुओं और (कनपटी खुजलाकर) मनचलों, दिलजलों, छैल-छबीलों, घरघुसनों.....।

सरदार—(तल्ला मारकर) कहीं खतम भी करेगा?

करिंगा—लुच्चे-लफंगों के घरों में ढोलक बजने लगे हैं। सोचता हूँ, मैं भी एक ऐसी ही एक नोक-झोंकवाली को ब्याह लूँ; ताकि चमरौटी में भी रौनक आ जाय।

सरदार—(तल्ला जड़कर) तू ऐसा ही दूसरों का बसा घर उजाड़ता रहता है।

(नाच समाप्त होता है। मंडली भीड़ में जा बैठती है।)

जयंत—(हँसता है।) करिंगा समाज का समालोचक है। गाँव

की रचना सर्वांगपूर्ण है। समय-समय पर समालोचना होती रहने से समाज में पाप टिकने नहीं पाता। अच्छा, अब अहीर अपना कौतुक दिखायें।

(अहीरों की मंडली गाजे-बाजे के साथ आगे आती है। नगाड़ेवाला नगाड़ा लेकर एक ओर बैठ जाता है और दो नाचनेवाले, जो काले जाँघिये में कमर के चारोंओर बहुत सी घंटियाँ लटकाये रहते हैं, कान में उँगली डालकर बिरहे गाते और नाचते हैं।)

नाचनेवाले—(बारी बारी से गाते हैं।)

पंचा क लागि मड़रिया रामजी, छोट बड़ा सब भाइ।
केहिका मैं अरती डतारों रे भैया, केहिका खोसौं बेइली क फूल।

(गाकर तांडव-नृत्य जैसा नाचता है।)

जयंत—वाह; बिरहे में तो जन तंत्र के सिद्धान्त का वर्णन है। और नाच का तो क्या कहना, यह तो पूरी एक कसरत है। इस नाच से बल और वीरता दोनों बढ़ते हैं। बाजा भी इसके उपयुक्त ही है।

(इसके बाद नाचनेवाले उलटा-सीधा कूद-फाँदकर फरी का खेल दिखाते हैं।)

जयंत—अच्छा, अभी धोबियों, गड़रियों, कहारों, नाइयों आदि के गीत किसी त्योहार के दिन सुने जायँगे, जिसकी सूचना मैं दूँगा। खेद की बात है कि कलायें अब केवल निम्न श्रेणी के लोगों ही में बच रही हैं। इन्हें समाज में प्रत्येक स्त्री-पुरुष के जीवन से संबद्ध होना चाहिये। संगीत, काव्य, चित्रकला, नृत्य, वाद्य, शिल्प आदि ऐसी कलायें हैं, जिनसे मनुष्य का जीवन सुंदर और सुखदायक बनता है। इनका आदर प्रत्येक गृहस्थ के घर में होना चाहिये।

(गाँवों की कुछ स्त्रियाँ जो सुखी और दुखी दोनों प्रकार के परिवारों की हैं, जो उनके साफ और मैले कपड़ों से प्रकट हो रहा है, सामने आती हैं।)

एक वृद्धा—बेटा! राम-जन्म की खुशी में कुछ हम लोगों का भी सुन लो।

जयंत—जरूर, माताजी! (आँखों में आँसू भरकर आप ही आप) आज बहुत वर्षों बाद यह 'बेटा' शब्द सुनने को मिला।

(माँ की याद में आँखें क्षणभर तक स्थिर हो जाती है। स्त्रियाँ गाती हैं।)

सोहर राग

गंगा जमुनवा के बीच तेवइया एक तपु करइ हो।
गंगा ! अपनी लहर हमै देतिउ त माँझाधार डूबित।
की तोहिं सासु ससुर दुख कि नैहर दूरि बसइ हो।
तेवई ! की तोर हरि परदेस कवन दुख डूबउ।
ना मोहिं सासु ससुर दुख, न नैहर दूरि बसइ हो।
गंगा ! ना मोरे हरि परदेस, कोखि दुख डूबब।
जाहु तेवइ घर अपने हम न लहर देबइ हो।
तेवई ! आजु के नवयें महीना होरिल तोरे होइहइँ।
गगा ! गहबरि पियरी चढ़उबै होरिल जब होइहइँ हो।
मैया ! देहु भगीरथ पूत जगत जस गावइ ॥

(स्त्रियाँ गाकर चुप हो जाती हैं।)

जयंत- धन्य हो, माताओ ! धन्य हो। (पुरुषों की ओर मुँह करके) सुन रहे हो, मातायें क्या चाहती हैं ? भगीरथ जैसा पूत, जो गंगा जी को स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आये थे। अपनी-अपनी माताओं की लालसा पूरी करो। अच्छा, आज का उत्सव समाप्त होता है।

एक गाँववाला—हमारे गाँव में एक पुस्तकालय की बड़ी जरूरत है।

जयंत—पहले घर बना लो, तब। पुस्तकें रक्खी कहाँ जायँगी ?

गाँववाला—हम घर बना लेंगे। चलकर आज ही नींव दे दीजिये।

जयंत—(प्रसन्न होकर) चलो, अभी चलते हैं। मैं तो चाहता ही हूँ कि अपनी और अपने गाँव की उन्नति का सारा काम अपने ही कंधों पर उठा लो; सरकार का मुँह मत ताको। मैं तो यहाँ तक चाहता हूँ कि हरएक नौजवान फौजी सिपाहियों के सारे काम अपने ही गाँव में सीख ले और फिर सरकार को सूचना दे दी जाय कि वह फौजी खर्च

कम करे; उसको जब जरूरत पड़ेगी, सारे नौजवान फौज में भर्ती हो जायँगे और फौज का काम समाप्त होने पर अपने घरों को लौट आयेंगे। फौज से बचा हुआ धन सरकार गाँवों की उन्नति में लगाये। इसी तरह शारीरिक, मानसिक, आर्थिक उन्नति के जितने काम हैं, सब गाँववालों को अपने अधिकार में ले लेने चाहियें। अच्छा, अब चलो, पुस्तकालय के मकान की नींव दे दें। आज रामनवमी है, अच्छी साइत है। पर पुस्तकें कहाँ से आयेंगी ?

गाँववाला—हमारी फसलें अब अच्छी होने लगी हैं। पुस्तकें हम खरीद लेंगे। आप केवल चुन दीजिये।

जयंत—(हर्ष से) अच्छी बात है।

(जयंत उठकर आगे चलता है। भीड़ उसके पीछे जाती है।)

आठवाँ दृश्य

समय - प्रातःकाल।

स्थान—राजकुमारी का कमरा।

(मृदुला राजकुमारी को डाकू की बात सुना रही है)

मृदुला—राजकुमारी, कुछ दिनों से सोनपुर में एक विचित्र डाकू आया है। सुनती हूँ, वह केवल दुष्टों और दुराचारियों ही को पकड़कर दण्ड देता है। जितने लंपट और चोर-डाकू हैं, उसको सबका पता है, वह उन्हें खोज-खोजकर पीटता है। सब उसके नाम से काँपते हैं।

राजकुमारी—(कौतूहल से) बड़ी विचित्र बात है।

एक दासी—सोनपुर में अब कोई गरीब भूखा नहीं सोता है।

दूसरी दासी—डाकू को सब के घर का पता है। मेरे घर में ओढ़ने की कमी थी, जाड़े से तकलीफ थी। यह बात भी न जाने उसे कैसे मालूम हो गई। कल रात में दो कम्बल दे गया।

राजकुमारी—वह खुद देने आया था ?

दासी—हाँ, राजकुमारी ! मैं उसे पहचानती हूँ। वह खुद आया था।

राजकुमारी—उसे सिपाहियों का डर नहीं ?

दासी—उसे किसी का डर नहीं। दीन-दुखियों के लिए उसका हृदय दया का समुद्र है; पर शरीर तो उसका दानव की तरह है। राज के सौ सिपाही एक तरफ और वह अकेला एक तरफ। तब भी वही विजयी होगा।

राजकुमारी—(मृदुला से) मृदुला बहन ! तुमने भी उसे देखा है ?

मृदुला—नहीं, राजकुमारी ! मैंने उसे देखा तो नहीं, पर दासी जो कहती है, वह सत्य है; क्योंकि मैं कइयों के मुख से ऐसा ही सुन चुकी हूँ। उसके आतंक से कितनी ही बहू-बेटियों की इज्जत बच रही है।

राजकुमारी—वह अकेला ही आता है ? या उसके संगी-साथी भी आते हैं ?

दासी—उसके संगी-साथी बहुत-से हैं। कभी-कभी वह अकेला ही आता है। कभी-कभी उसके संगी-साथी भी आते हैं।

राजकुमारी—दीन-दुखियों के लिए उसके हृदय में दया है तो वह कोई अच्छे कुल का जान पड़ता है।

दासी—जान पड़ता है, वह किसी राजा का पुत्र है। उसका मुख ऐसा सुदर है, जैसा किसी देवता का। उसके चेहरे पर एक अद्‌भुत ज्योति दिखाई पड़ती है, जो मैंने किसी मनुष्य के चेहरे पर नहीं देखी। उसके नेत्र बड़े-बड़े हैं; जिनमें इतनी करुणा भरी है कि वे उसके भार से झँपे-से रहते हैं। पर जब वह दुष्टों पर क्रोध करता है तब, उसके नेत्रों से ऐसी ज्वाला निकलने लगती है कि किसी को उसकी ओर देखने तक की हिम्मत नहीं होती।

राजकुमारी—(मृदुला से) बहन ! क्या कभी मुझे भी उसे देखने का अवसर मिल सकता है ?

मृदुला—राजकुमारी ! मैं पता लगाऊँगी। वह जङ्गल में जिस रास्ते से जाता-आता है, किसी दिन संध्या-समय हम उसी तरफ टहलने चलेंगी। शायद उसे देख सकें।

राजकुमारी—पर डाकू का क्या भरोसा ? कहीं हमें भी लूट ले तो !

पहली दास—नहीं राजकुमारी ! स्त्री-जाति के लिये उसके हृदय में बड़ा सम्मान है। स्त्रियों को देखकर वह नम्रता से सिर झुका लेता है; ऐसा मैंने सुना है।

दूसरी दासी—गरीबों की कन्याओं के कई विवाहों में वह यकायक आया और कन्याओं को बहुत-से गहने, रुपये और कपड़े देकर चला गया।

राजकुमारी—उसकी बातें बड़ी विचित्र हैं। (**दासी को जाने के लिये कहकर**) मृदुला बहन ! मैं उस डाकू का परिचय चाहती हूँ।

मृदुला—राजकुमारी ! एक डाकू का परिचय प्राप्त करके क्या करोगी ?

राजकुमारी—उसे एक उपहार दूँगी।

मृदुला—डाकू को ? राज के शत्रु को ?

राजकुमारी—हाँ, उस दीन-दुखियों के सहायक को, उस स्त्री-जाति की मर्यादा के रक्षक को, उस प्रजा के मित्र को, उस अत्याचारियों और लम्पटों के शत्रु को, उस तेजस्वी नवयुवक को एक बहुमूल्य उपहार दूँगी।

मृदुला—(**हँसकर**) वह कौन-सा उपहार है ? राजकुमारी !

राजकुमारी—मेरे पास एक अमूल्य रत्न है, वही उसे दे दूँगी।

मृदुला—मुझे तो अबतक तुमने नहीं दिखलाया, राजकुमारी !

राजकुमारी—वाह, तुम्हीं ने तो उस पर शान चढ़ाकर उसे और चमका दिया है !

मृदुला—हृदय ?

(**राजकुमारी मुग्धा की तरह मृदुला की तरफ़ देखने लगती है**)

मृदुला—(**आखों में आँसू भरकर**) धन्य हो, राजकुमारी ! दीन-दुखियों के प्रति तुम्हारे हृदय में इतनी करुणा है !

राजकुमारी—मृदुला बहन ! हृदय को यह ईश्वरी विभव तुम्हारे द्वारा मिला है। मुझे अब राज-सुख से घृणा हो गई है। इस पाप की पुरी में मैं प्रत्येक क्षण घबरा रही हूँ। कभी-कभी जी ऐसा ऊबता है

कि महलों से चुपचाप निकलकर भाग जाऊँ और गरीबों के बीच में रहूँ। मुझे वहाँ ईश्वर का निवास दिखाई पडता है।

मृदुला—(गद्गद होकर) राजकुमारी !

(इससे अधिक वह नहीं कह सकी)

नवाँ दृश्य

समय—रात्रि।

स्थान—राजमहल

(राजा और उसके सब उच्च पदाधिकारी उपस्थित हैं। रोशनी हो रही है।)

मंत्री—महाराज, कल सेठ मनोहरलाल के दरवाजे पर डाकू की तरफ से एक पत्र चिपकाया गया, जिसमें लिखा कि था तुम दुराचार से बाज नहीं आ रहे हो, इससे आज रात में हम तुम्हें पकड़कर तुम्हारी गंदी आदत छुड़ायेंगे। सेठ मनोहरलाल बेचारे डरकर राजमहल में आ छिपे हैं। यह एक अच्छा मौका हाथ लग गया। अब डाकू सहज ही में पकड़ लिया जायगा और पुलीस के हवाले कर दिया जायगा। सेठ मनोहरलाल बहुत भयभीत थे। मैंने उनको महल के सबसे ऊपरवाले कमरे में ठहरा दिया है। महल के चारों ओरपहरे का भी पक्का प्रबन्ध कर दिया है। सिपाही भी तैयार हैं। डाकू के आने का समाचार पाते ही सेनापति उसे घेरकर पकड़ लेंगे।

राजा—फाटक पर काफी पहरे का प्रबंध है न ?

सेनापति—हाँ, महाराज ! सेना के बड़े-बड़े योद्धा लोग फाटक पर पहरा दे रहे हैं। फाटक खुला रक्खा गया है, ताकि वह अन्दर आये तो उसे पकड़ लें। कुछ सैनिक महल के अंदर भी छिपाकर रक्खे गये हैं। मैं तो समझता हूँ, वह आयेगा ही नहीं।

मंत्री—उसकी मृत्यु बदी होगी तो उसे कौन रोक सकेगा ?

(राजा और सब सभासद हँसते हैं)

(इतने में फाटक पर हल्ला होता है। पकड़ो,पकड़ो, मारो, मारो, की आवाज सुनाई पड़ती है राजा डर के मारे महल की एक कोठरी में चला जाता है और उसे भीतर से बन्द कर लेता है। मन्त्री आड़ में जाकर छिप जाता है। सेनापति बाहर जाता है।)

दसवाँ दृश्य

समय—रात्रि का पहला पहर।

स्थान—राजमहल का फाटक।

(फाटक पर हथियार-बंद सिपाहियों का कड़ा पहरा है। राजकुमारी पद्मावती और मृदुला फाटक की छत पर मुँडेर के पास खड़ी होकर फाटक के सामने का दृश्य देख रही हैं। जयन्त मस्तानी चाल से आता है।)

जयन्त—सिपाहियों, मैं तुमसे लड़ने नहीं आया हूँ। तुम लोग तो मेरे बन्धु हो। मैं उस दुष्ट, दुराचारी मनोहरलाल के लिये आया हूँ, जिसने कितनी ही गरीब बहनों का धर्म नष्ट किया है, और उन्हें राह की भिखारिन बना दिया है, गरीबों ही के कमाये धन से गरीब बहनों का सतीत्व खरीदा है; जिसने अपनी विवाहिता स्त्री को इसलिए त्याग दिया है कि वह सती है, साध्वी है; जिसने अपने इकलौते पुत्र को इसलिए त्याग दिया है कि उसके हृदय में दीन-दुखियों के लिए दया का भाव है। तुम मनोहरलाल को मेरे सिपुर्द कर दो, मैं रक्त की एक बूँद गिराये बिना उसे लेकर लौट जाऊँगा, और जब वह अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, तब उसे छोड़ भी दूँगा।

जमादार—सेठ मनोहरलाल तो बड़े धर्मात्मा आदमी हैं।

जयन्त—कभी थे, अब तो घोर लम्पट हैं। पैसे ने उन्हें खा लिया है; पैसे के भी मुँह होता है।

जमादार—सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास क्यों करते हो ?

जयन्त—मेरे पास सच्चा प्रमाण है। अभी कल की बात है, मनोहरलाल ने एक युवती दासी को इसलिए घर से निकाल दिया कि उसे गर्भ है। वह एक गाँव की रहनेवाली है, गाँव में काफी मेहनत-मजूरी कर के भी वह अपना भरण-पोषण न कर सकी, इसलिए सोनपुर आ गई। मनोहरलाल की उस पर नजर पड़ी, उसने उसे नौकर रख लिया। मीठी बातों और सुख के प्रलोभन में पड़कर गाँव की भोली-भाली युवती ने अपना सर्वस्व उस पापी मनोहरलाल को समर्पण कर दिया। थोड़े ही दिनों बाद मनोहरलाल की नजर पर दूसरी गरीब युवती चढ़ गई। उसने पहली युवती पर यह अपराध लगाकर कि उसे गर्भ है। उसकी चाल-चलन खराब है, घर से निकाल दिया। अब वह समाज में कहीं आश्रय नहीं पा रही है और मारी-मारी फिर रही है। क्या तुम लोग मनोहरलाल के इस कुकर्म को अच्छा कहोगे ? मैं मनोहरलाल को पकड़कर एक बार साधारण जनता के सामने उस युवती के समक्ष खड़ा करना चाहता हूँ। तुम लोग भी गरीब घरों के हो। यदि वह तुम्हारी बहन या बेटी होती तो तुमको दुःख होता कि नहीं ? अतएव तुम लोग मेरा रास्ता छोड़ दो।

जमादार—मनोहरलाल अपनी कोठी में होंगे, वहाँ जाओ न !

जयन्त—मुझे सब मालूम है; वह जिस कोठरी में छिपाया गया है, मैं उसे भी जानता हूँ।

(फाटक के अन्दर से एक जोरदार आवाज आती है।)

आवाज—सिपाहियों ! पकड़ लो इस डाकू को, इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो; भागकर जाने न पावे।

(सिपाही टस से मस नहीं होते)

(कुछ सिपाही लाठियां उठाकर आगे बढ़ते हैं)

जयन्त—(थोड़ा पीछे हटकर) एक आदमी पर इतने आदमियों का झपटना कोई वीरता की बात नहीं। मैं फिर कहता हूँ कि मेरी नीयत

निर्दोष प्राणियों का रक्त बहाने की नहीं है। मैं भी गरीब हूँ, तुम लोग भी गरीब ही हो, फिर हम लोग मनोहरलाल ऐसे पापियों के लिए अपने प्राण क्यों दें ?

फाटक के अंदर की आवाज—कायरो, तुम लोग तमाशा क्या देख रहे हो ? सैकड़ों तुम खड़े हो और एक आदमी से डर रहे हो ! शर्म नहीं आती ? पकड़ लो इस बदमाश को।

(सिपाही झपटते हैं। जयन्त भी लाठी से वार बचाता हुआ लड़ता है। उसका डंडा जिस लाठी पर पड़ता है, वही हाथ से छूटकर दूर जा पड़ती है।)

राजकुमारी—**(मृदुला से)** अहा, कैसा वीर है ! सैकड़ों सिपाहियों से अकेला लड़ रहा है। इसकी फुर्ती तो देखो; इसकी लाठी तो बिजली की तरह चल रही है; किसी की हिम्मत इसके पास पहुँचने की नहीं होती। ओहो, सिपाही सब भाग खड़े हुए।

(राजकुमारी ताली बजाकर छत पर नाचने लगती है।)

मृदुला—राजकुमारी ! इधर देखो, वह महल के अन्दर जा रहा है। उसे कोई रोकनेवाला नहीं।

राजकुमारी—सेनापति कहाँ गया ? (हँसती है।)

फाटक के अन्दर से आवाज—फाटक बन्द कर लो।

(फाटक बन्द होने की आवाज)

राजकुमारी—**(कातर स्वर में)** अब वह कैद हो गया।

मृदुला—**(फाटक के छत की दूसरी ओर महल की तरफ दिखाकर)** उसे कोई कैद नहीं कर सकता। वह देखो, वह देखो, वह मनोहरलाल को ढूँढ़ रहा है। मानो उसे मालूम है कि मनोहरलाल महल के ऊपर-वाली कोठरी में छिपा हुआ है।

राजकुमारी—उसे सब मालूम है। दासी कहती थी न, कि उसे घर-घर का पता है। भला, सब बातों का पता उसे कैसे लग जाता है !

मृदुला—दीन-दुखियों से। सभी दीन-दुखी हृदय से उसको प्यार करते हैं। वे हरएक बात की खबर उसे देते रहते हैं।

राजकुमारी—वह देखो; उसने उस कोठरी का दरवाजा एक ही धक्के से तोड़ डाला। हे भगवान्, उसकी भुजाओं में कितना बल है! मृदुला बहन! फाटक पर जब वह सिपाहियों से बात कर रहा था, तब मैंने उसका मुँह देखा था; बड़ा सुन्दर मुँह है बहन!—उसके विशाल नेत्र संसार के सब रत्नों से अधिक कीमती हैं।

मृदुला—तुम्हारे उपहार से भी।

राजकुमारी—(कुछ लजाकर) मेरे उपहार का मूल्य तो वही आँक सकता है।

(छत पर चिल्लाहट; मनोहरलाल चिल्लाता है)

मनोहरलाल—दोहाई महाराज की; मुझे बचाओ; डाकू मुझे पकड़े लिये जा रहा है।

(राजमहल में चारोंओर सन्नाटा है)

राजकुमारी—(मृदुला से) अन्त में मनोहरलाल को उसने पकड़ ही लिया। वह देखो, जैसे सिंह हिरन के छोटे बच्चे को पकड़कर उठा लेता है, उसी तरह डाकू ने मनोहरलाल को पकड़कर महल के नीचे फेंक दिया। (सिहर कर) यह भयानक क्रूरता है। मनोहरलाल की तो हड्डी-हड्डी छितरा गई होगी। राम, राम, डाकू के हृदय में सचमुच दया नहीं होती।

मृदुला—बहन, मनोहरलाल ने न जाने कितनी गरीब बहनों को धर्म-भ्रष्ट किया है। उसे ठीक सजा मिल गई।

राजकुमारी—(कुछ सावधान होकर) डाकू का नाम क्या है? इसे अब डाकू कहना प्रिय नहीं लगता।

मृदुला—कोई प्यारा-सा नाम रख लो। मैं तो उसका असली नाम नहीं जानती।

राजकुमारी—इसका नाम रख लो प्रभाकर।

(राजकुमारी का मुख लज्जा से लाल हो जाता है।)

मृदुला—ओहो, प्रभाकर को देखकर पद्म विकसित होता है न ?

(राजकुमारी मृदुला के गाल पर एक चपत लगाती है)

मृदुला—देखो, प्रभाकर नीचे उतर रहा है। पर नीचे तो सेनापति ने जाने का द्वार बन्द करा दिया है।

(मंत्री का प्रवेश)

राजकुमारी—यह ऊपर कौन है ? इसने जीने के ऊपर का द्वार बन्द कर दिया। अब तो डाकू जीने में कैद हो गया।

मृदुला—यह तो मन्त्रीजी हैं। डाकू को कैद करके डर के मारे चुपचाप खिसके जा रहे हैं। मालूम होता है, ऊपर ही कहीं छिपे थे।

राजकुमारी—(मुँह बिचकाकर) मुझे इस आदमी से बड़ी घृणा है। बहन ! मैं जाकर जीना खोल देना चाहती हूँ।

मृदुला—ऊपर आकर वह किधर जायगा ?

राजकुमारी—चाहे जिधर जाय।

(राजकुमारी दौड़कर जाती है। मृदुला वहीं खड़ी रहती है। थोड़ी देर बाद ही राजकुमारी हँसती हुई मृदुला के पास आती है।)

मृदुला—(उत्सुकता से) क्यों, खोल दिया ?

राजकुमारी—(अल्हड़पने से) हाँ।

मृदुला—फिर ?

राजकुमारी—फिर डाकू जीने से बाहर निकल आया। उसने पूछा—इस समय मैं किसके उपकार का ऋणी हूँ ? मेरे मुँह से निकल पड़ा—राजकुमारी पद्मावती के। उसने मुझे अभिवादन किया और वायु-वेग से झपटकर छत के कोने में गया और नीचे कूद पड़ा। उसके कूदने की 'धम' आवाज मैंने सुनी। क्या कहूँ बहन ! डाकू का मुँह इतना सुंदर है कि जीवन भर उसे सामने बैठाकर देखती रहूँ, तो भी न थकूँ। (कौतूहल से) उसका मुँह मेरी आँखों से एक ही हाथ की दूरी पर तो आ गया था।

(राजा, मंत्री और सेनापति का प्रवेश। आगे राजा पीछे, मंत्री और सेनापति सीधे राजकुमारी के पास आकर खड़े हो जाते हैं। राजा क्रोध में है।)

राजा—(राजकुमारी से) मंत्रीजी ने कहा कि डाकू जीने में कैद हो गया, पर किसने दरवाजा खोलकर उसे निकल जाने दिया ?

राजकुमारी—(दृढ़ता से) मैंने !

राजा—(क्रोध से) तुमने ! क्यों ?

राजकुमारी—क्योंकि वह वीर था। सैकड़ों आदमी मिलकर एक आदमी को घेर लें और उसे चुपके से कैद कर लें। यह वीरता नहीं, कायरता है, पिता जी !

राजा—(क्रोध से) तुम मेरी पुत्री होकर मेरे शत्रु का पक्ष ले रही हो ? सेनापति ! राजकुमारी को राजा के शत्रु की सहायता करने के अपराध में महल के कैदखाने में ले जाकर कैद कर दो।

सेनापति—(झुककर प्रणाम करके) बहुत अच्छा, धर्मावतार !

(सेनापति राजकुमारी को महल के कैदखाने में ले जाता है। राजा और मंत्री जाते हैं। राजा के आने पर मृदुला थोड़ा हटकर एक किनारे खड़ी हो जाती है। राजकुमारी को सेनापति ले जाता है, तब राजा के चले जाने पर मृदुला भी दूसरी ओर चली जाती है।)

——

तीसरा अंक

पहला दृश्य

समय--सायंकाल ।

स्थान--महल के अन्दर कुसुम का कमरा।

(एक दासी का प्रवेश)

दासी—देवीजी ! एक माताजी आपसे मिलना चाहती हैं ।

कुसुम—कौन हैं ?

दासी—कल्याणी माँ ।

कुसुम—(चौंककर) सेठ मनोहरलाल की धर्मपत्नी ?

दासी—हाँ ।

कुसुम—ले आओ । (स्वगत--आँखों में आँसू भरकर) हा ! मुझे क्या मालूम था कि कल्याणी माँ के दर्शन मैं इस दशा में करूँगी ।

(कमरे में कल्याणी का प्रवेश)

(दासी पहुँचाकर लौट जाती है । कुसुम दौड़कर कल्याणी के गले से लिपट जाती है । कल्याणी उसे छाती से छपटा लेती है । फिर कुसुम कल्याणी को ले जाकर ऊँचे आसन पर बैठाती है और स्वयं उसके पास नीचे बैठकर उसकी गोद में सिर रख देती है । कल्याणी उसके सिर पर हाथ फेरती है ।)

कुसुम—कल्याणी माँ ! सिर पर हाथ फेरती रहो, बहुत सुख मालूम होता है । कितने वर्षों के बाद यह स्पर्श मिला है ।

(कल्याणी की आँखों में आँसू आ जाते हैं)

कल्याणी—बेटी ! सुख से हो न ?

कुसुम—कल्याणी माँ ! सुख की परिभाषा बदल गई है। अब मुझे दुःख ही में सुख मालूम होता है।

कल्याणी—ठीक है बेटी ! आचार्याजी ने तुम्हारे जीवन को प्रकाश से भर दिया है।

कुसुम—माँ ! तुमने क्यों रोक दिया था कि मैं सोनपुर में तुमसे न मिलूँ ?

कल्याणी—मिलने का समय आता तो बेटी ! क्या मैं तुमसे बिना मिले रहती ? असमय में मिलना हम दोनों के दुःख का कारण होता।

कुसुम—(कल्याणी के शरीर को गहनों से खाली देखकर) माँ, तुमने सब गहने बेंचकर मेरी शिक्षा में लगा दिये !

(कुसुम का कंठ भर आता है)

कल्याणी—बेटी, वे गहने तो अब और अधिक सुन्दर लग रहे हैं। तुम गहना ही तो हो।

कुसुम—(साधारण कपड़े की साड़ी को देखकर) आचार्याजी से सुना था माँ ! तुमको कपड़ों का बड़ा शौक था। रेशमी छोड़ तुम सूती कपड़े पहनती ही न थी। गहनों के साथ क्या कपड़े भी चित्त से उतर गये ?

कल्याणी—बेटी ! मैं अब गरीबों के महल्ले में रहती हूँ। वहाँ रेशमी कपड़े प्रिय नहीं लगते।

(कुसुम मुँह उठाकर कल्याणी के मुख की तरफ श्रद्धा से देखती है। कल्याणी के गंभीर और शांत चेहरे पर कोई अन्तर नहीं आता।)

कुसुम—राज-सुख छोड़कर गरीबों के महल्ले में क्यों चली गई, माँ !

कल्याणी—पैसा इकट्ठा देखकर बहुत भय लगता है बेटी !—पैसा जब तक जरूरत भर को रहता है, तब तक आदमी उसे खाता रहता है; जरूरत से अधिक पैसा आदमी को खाने लगता है।

(एक आह भरकर)

देखो न, मेरे स्वामी मेरे विवाह के बाद पंद्रह वर्षों तक कैसे चरित्रवान् थे; जब वे रास्ते में निकलते थे, तब छोटे-बड़े सब उन पर आशीर्वादों की वर्षा करते थे। उस समय मेरे आनन्द की क्या कोई सीमा थी बेटी !—मैं स्वर्ग-सुख का अनुभव करती थी। धीरे-धीरे पैसा अधिक हुआ, उसने मेरे स्वामी को खा लिया।

(मनोहरलाल के सम्बन्ध में अत्यन्त शोकपूर्ण समाचार सुनने या कहने के भय से कुसुम भीतर ही भीतर काँप रही थी।)

कुसुम—गरीबों की बस्ती में तुम क्या करती हो, माँ !

कल्याणी—मैं गरीब की तरह रहती हूँ। मैं प्रतिदिन अनुभव करती हूँ कि मेरा हृदय पवित्र होता जा रहा है और उसमें एक अद्भुत प्रकाश धीरे-धीरे उदय हो रहा है। वह प्रकाश बड़ा प्रिय लगता है, बेटी !—मैं गरीबों के बच्चों को पढ़ाती हूँ।

कुसुम—जीविका के लिये क्या करती हो, माँ !

कल्याणी—कपड़े सीती हूँ।

(मृदुला प्रेम से विह्वल होकर कल्याणी की गोद में सिर डालकर उसके चरणों पर लोटने लगती है।)

कुसुम—मुझे क्यों राजमहल में फेंक दिया, माँ !

कल्याणी—बेटी ! यह भी सेवा का एक स्थान है। मैं जानती हूँ, बेटी ! तुम्हारी संगति का राजकुमारी पर बहुत प्रभाव पड़ा है। और एक दिन इसका परिणाम सोनपुर राज की सारी प्रजा के लिये बड़ा ही मंगलदायक होगा। उसका श्रेय, बेटी ! तुमको मिलेगा।

कुसुम—माँ, अशोक कहाँ है ?

कल्याणी—अशोक डाकुओं के दल में शामिल हो गया है।

कुसुम—**(आश्चर्य से)** क्यों, माँ !

कल्याणी—दीन-दुखियों की सेवा के लिये।

कुसुम—डाकुओं के दल से बाहर रहकर क्या दीन-दुखियों की सेवा नहीं हो सकती थी ?

कल्याणी—हो सकती है और होती भी है। पर शारीरिक रोग को दूर करने के लिये जिस प्रकार चतुर डाक्टर आवश्यक समझकर शस्त्र और बलवर्द्धक औषधि दोनों का प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार सामाजिक रोग के लिये भी बल-प्रयोग और सेवा दोनों प्रकार के उपायों की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ बल-प्रयोग की आवश्यकता होती है, वहाँ केवल बुद्धिवाद से सफलता नहीं मिल सकती।

कुसुम—(**गंभीर होकर**) अशोक को क्या तुमने डाकुओं के दल में भेजा है ?

कल्याणी—नहीं; वह अपनी इच्छा से गया है। पढ़-लिखकर जब से घर आया, तभी से उसके विचारों में बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ रहा था। बार-बार वह कहा करता था कि मुझे शिक्षा इसलिये मिली है कि मैं समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचा सकूँ। सोनपुर के जितने शिक्षित लड़के थे, डाकू सरदार ने सबको अपने दल में मिला लिया। एक दिन अशोक ने मुझसे पूछा—क्या मैं दीन-दुखियों की सेवा के लिये अपना जीवन दे सकता हूँ ? मैंने कहा—यह मेरे लिये गर्व की बात होगी, बेटा !—तभी से वह चला गया।

कुसुम—तब से मिलता नहीं ?

कल्याणी—कभी-कभी आता है। कहता भी है कि डाकू सरदार से उसकी बड़ी घनिष्ठता है। वह डाकू सरदार के देवता जैसे गुणों के वर्णन से मेरा हृदय भर जाता है।

कुसुम—मैं भी उसके विषय में बड़े अनोखे-अनोखे समाचार सुनती हूँ। पर माँ ! अशोक ने राजा का सा सुख छोड़कर बड़े त्याग का परिचय दिया। आखिर तुम्हारा ही पुत्र तो है ! (**कल्याणी की पलकें कुछ झुक जाती हैं**) अशोक के विवाह का क्या हुआ माँ !

कल्याणी—इसी पर तो उसके पिता से उसका विवाद हो गया था। उसके पिता उसका विवाह एक बड़े धनी की कन्या से करना चाहते थे, जो शायद पढ़ी-लिखी नहीं है। अशोक ने कहा—मैं किसी गरीब की पढ़ी-लिखी कन्या से विवाह करूँगा। मुझे दीन-दुखियों की सेवा के लिये एक संगी चाहिये, धन-दौलत नहीं चाहिये। इस पर उसके पिता ने क्रुद्ध होकर उसे घर से निकाल दिया और घोषित कर दिया कि अशोक उनका उत्तराधिकारी नहीं।

(सुकुम यह समाचार सुनकर कुछ देर तक गंभीर हो जाती है।)

कुसुम—अशोक को धन्य है!

कल्याणी—बेटी! मैं तुम्हारे पास एक जरूरी काम से आई हूँ।

कुसुम—**(बड़ी उत्सुकता से)** क्या है माँ!—तुमको मेरे पास आना पड़े, यह तो मेरे लिये लज्जा की बात है।

कल्याणी—लज्जा की बात क्यों है बेटी!—क्या तुम कोई गैर हो? तुमको तो मालूम ही है कि मेरे पति को डाकू पकड़ ले गये।

(कुसुम कुछ कहते-कहते रुक जाती है)

कल्याणी—कुछ भी हो, वे हैं तो मेरे पति ही। मैं उनकी पत्नी हूँ। आर्य-जाति की स्त्री हूँ। हृदय में पति के लिए जो श्रद्धा, जो प्रेम परंपरा से मिलता आ रहा है, वह पति के दुःख में द्रवित न हो, ऐसा होना असम्भव है।

कुसुम—मैं तुम्हारे मन का कष्ट समझती हूँ, माँ!—पर कल रात में डाकू ने उन्हें बड़ी निर्दयता से महल के नीचे फेंक दिया; फिर पता न चला कि क्या हुआ?

कल्याणी—डाकू के साथियों ने कंबल फैलाकर उस पर उनको थाम लिया था। वे जमीन पर गिरने ही नहीं पाये, न उनको चोट लगी। वे सकुशल डाकू सरदार के बन्दी हैं। धन जाय, इसका तो मुझे

कोई शोक नहीं। जो धन मेरे स्वामी के नाश का कारण है, वह मुझे प्रिय कैसे लग सकता है ? पर उनके शरीर को कोई कष्ट नहीं पहुँचना चाहिए। यदि तुमसे इस सम्बन्ध में कुछ हो सके, तो बेटी ! करना। यही कहने आई हूँ।

कुसुम—माँ ! मैं अपने प्राण देकर भी पिताजी की रक्षा कर सकूँगी तो करूँगी। अशोक ने पिता के प्रति निष्ठुरता का व्यवहार कभी न किया होगा।

कल्याणी—कभी नहीं। पर अशोक अपने सरदार के निर्णय में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, ऐसा वचन देने ही पर वह दल में शामिल किया गया है।

कुसुम—अच्छा, माँ ! मैं अभी से इस सम्बन्ध में सावधान होती हूँ।

(थोड़ा ठहरकर बातचीत का सिलसिला बदलने के लिए)

कुसुम—राजमहल तो बड़ी भयानक जगह है माँ !—यहाँ कोई किसी का विश्वासपात्र नहीं। सब एक दूसरे से भयभीत रहते हैं। यह तो नरक से भी अधिक दुःखपूर्ण है। यहाँ छोटा-बड़ा हर एक व्यक्ति एक न एक षड्यन्त्र का संचालक है। यहाँ षड्यन्त्र के बिना कोई ठहर ही नहीं सकता। मैं यद्यपि अपने को लक्ष्य पर सदा स्थिर रखती हूँ, पर रात-दिन एक अस्वाभाविक वातावरण में रहने से कभी-कभी ऊब जाती हूँ और जी में आता है कि निकलकर गरीबों की बस्ती में जा बसूँ, जहाँ षड्यन्त्र नहीं, अविश्वास नहीं, छल नहीं, भय नहीं।

कल्याणी—बेटी ! धीरज धरो। दुःख को वीरता के साथ सहने ही में मनुष्यता की सच्ची परीक्षा है।

कुसुम—उधर डाकू सरदार की कृपा से राज में अत्याचार तो एक प्रकार से बन्द ही हो गये, पर राजा इतने निर्बल हैं कि मन्त्री उन्हें दबाये आ रहा है। वह अपने पुत्र से राजकुमारी की शादी करके राज को हड़पना चाहता है। उसने राजा के अत्यन्त विश्वासी सेवकों को भी

अपनी ओर मिला लिया है। राजा, रानी और राजकुमारी तीनों इस समय निस्सहाय हैं। यदि राजा मन्त्री की इच्छा पूरी न कर सके तो राजा और रानी दोनों के प्राण संकट में हैं।

कल्याणी—ईश्वर की इच्छा, बेटी !—संसार में सुखी कौन है ? सुखी वही है जिसने दुःख को गले लगा लिया है। मैं अब जाती हूँ।

(उठती है। कुसुम उसे श्रद्धासहित प्रणाम करती है और द्वार तक पहुँचाने जाती है)

कुसुम—(द्वार पर) जयन्त का कुछ पता नहीं लगा, कल्याणी माँ !

कल्याणी—(शोक भरे शब्दों में) नहीं, बेटी !

(कल्याणी विदा होती है)

दूसरा दृश्य

समय—रात्रि।

स्थान—डाकू सरदार का घर।

(दो पहाड़ियों के बीच में एक लम्बा-सा रास्ता है। उसमें अगल-बगल गुफायें खोदकर उसमें डाकू और उसके संगी-साथी रहते हैं। दर्रे के आस-पास घना जंगल और लम्बे चौड़े मैदान हैं। डाकू सरदार अपनी गुफा में अकेला बैठा हुआ कुछ गा रहा है। एक मन्द प्रकाशवाला दीपक टिमटिमा रहा है। दो पहरेदार युवक एक सुन्दर युवक को पकड़े हुए उपस्थित होते हैं।)

पहरेदार—यह युवक राजा का कोई भेदिया जान पड़ता है। रात में इधर-उधर पता लगाता हुआ हमें मिला है। पूछने पर यह अपना ठीक पता और इधर आने का उद्देश्य नहीं बतलाता है।

सरदार—क्यों युवक ! तुम कौन हो ? यहाँ क्यों आये ?

युवक—सरदार ! आपसे एकान्त में बात करने की मेरी इच्छा है।

(दोनों पहरेदार सरदार का इशारा पाकर चले जाते हैं। युवक खड़े ही खड़े बात करता है।)

युवक—आप मुझे पहचान सकते हैं ?

सरदार—**(दिये की लौ तेज करके, ध्यान से देखकर)** हाँ, हाँ, तुम राजकुमारी पद्मावती हो न ? जिन्होंने मुझे राजमहल में जीने की कैद से बाहर निकाला था ?

युवक—**(नम्रता से)** हाँ, जिसने एक वीर पुरुष के लिए अपना कर्त्तव्य पालन किया था।

सरदार—**(उठकर उसके लिए एक आसन देकर)** आइए, देवि ! पधारिये। इस दीन-दुखियों की कुटिया में मैं आपका स्वागत करता हूँ।

(राजकुमारी बैठ जाती है। सरदार भी अपने आसन पर बैठ जाता है।)

सरदार—इस निर्जन स्थान में, रात्रि के समय, सोनपुर की राजकुमारी के अकेले आने का अभिप्राय क्या मैं जान सकता हूँ ?

राजकुमारी—सरदार ! आप शायद सुन चुके होंगे कि मैं राजमहल में कैद कर दी गई थी।

सरदार—हाँ, मैं सुन चुका हूँ।

राजकुमारी—राज्य में भीतर ही भीतर क्या षड्यन्त्र चल रहा है, यह भी आप शायद जानते होंगे।

सरदार—थोड़ा बहुत जानता हूँ, राजकुमारी !—राज्य की रचना ही इस प्रकार की है कि बिना षड्यन्त्र के वह चल ही नहीं सकता। पर मैं तो दीन-दुखियों में रहता हूँ। इससे उधर कुछ विशेष ध्यान नहीं देता।

राजकुमारी—मेरे पिता बहुत निर्बल स्वभाव के हैं। मंत्री बहुत धूर्त है। मैं अपने माता-पिता की एक ही सन्तान हूँ। मन्त्री अपने

लड़के से मेरा विवाह कराके राज्य पर अधिकार करना चाहता है। मैं मन्त्री के लड़के से बड़ी घृणा करती हूँ। वह बड़ा विषयी, लम्पट, शराबी, क्रूर और आलसी है। मैं अपना जीवन उसके हाथ में दूँ, इससे तो अच्छा है कि मैं किसी मजदूर के साथ विवाह करके अपना जीवन परिश्रम, स्वावलम्बन और सत्य के प्रकाश में बिताऊँ।

सरदार—धन्य हो, राजकुमारी!

राजकुमारी—मेरे पिता मन्त्री के दबाव में पड़कर कुछ सहमत हो गये थे; पर मैंने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि मेरा विवाह आप किसी सद्-गुणी गरीब से कर दीजिये, पर मैं मन्त्री के लड़के को नहीं चाहती हूँ। पर कन्या की सुनता कौन है! मेरे माता-पिता की स्वीकृति लेकर मन्त्री जबरदस्ती अपने घृणित पुत्र के साथ मेरा विवाह कराके राज्य पर-अधिकार कर ही लेगा; पीछे चाहे मैं आत्महत्या करके मर ही क्यों न जाऊँ।

सरदार—धन दोनों तरफ अपराध करा सकता है, राजकुमारी!

राजकुमारी—मेरे मन की दृढ़ता देखकर मेरे माता-पिता ने मन्त्री को स्पष्ट कह दिया कि राजकुमारी का विवाह मन्त्री-पुत्र से नहीं होगा।

सरदार—(उत्सुकता से) फिर?

राजकुमारी—यह महीनों पहले की बात है। इधर मन्त्री ने मेरे राजवंश के अत्यंत विश्वासपात्र व्यक्तियों को भी, किसी को धन, किसी को जागीर, किसी को ऊँचा पद देकर अपनी ओर मिला लिया।

सरदार—राज्य में तो किसी को विश्वासपात्र समझना ही भूल है।

राजकुमारी—सेनापति, छोटे मन्त्री-गण, सभासद सभी मन्त्री के स्वर में स्वर मिलाकर बोलने लगे। राजा को चारों तरफ से निर्बल करके मन्त्री ने परसों राजा और रानी को अपने घर निमंत्रित किया। वहाँ जाने पर मन्त्री ने फिर वही मेरे विवाह का प्रसंग छेड़ा। मेरे माता-पिता ने फिर अस्वीकार किया। इस पर मन्त्री ने दोनों को वहीं कैद

लिया और कहा कि जबतक स्वीकृति-पत्र पर वे हस्ताक्षर न करेंगे तक छुटकारा नहीं पा सकते।

सरदार—ये बातें आपको कैसे मालूम हुईं, राजकुमारी ?

राजकुमारी—मेरी सहेली मृदुला रोज दो वक्त मुझे कैदखाने में जन देने जाती है। उसने आज शाम को ये सब समाचार मुझे ाये। किसी से उसे मालूम हुआ होगा।

सरदार—आपकी सहेली का नाम मृदुला है ? उनका चरित्र तो ो जैसा पवित्र और प्रभात की तरह उज्वल है, राजकुमारी !

राकुमारी—आप उन्हें कैसे जानते हैं ?

सरदार—मैं यह नहीं जानता कि वे कौन हैं ? पर यह जानता कि राजकुमारी ! आपके अंदर उन्हीं का तो विकास हो रहा है।

राजकुमारी—(मृदुला के प्रति श्रद्धा का भाव प्रदर्शित करके) ं है, सरदार ! मेरे जावन पर उन्हीं की छाप है !

सरदार—अच्छा, फिर ?

राजकुमारी—अब मेरे जीवन-मरण का प्रश्न मेरे सामने है। ज़ा काम तो मेरा यह है कि मैं अपने माता-पिता को उस दुष्ट मन्त्री बन्धन से मुक्त करूँ। दूसरा अपने को पापी के संसर्ग से बचाऊँ।

सरदार—बहुत कठिन काम है, देवी !

राजकुमारी—आपकी सहायता मिले, तो कुछ भी कठिन नहीं है।

सरदार—पर मैंने तो दीन-दुखियों की सहायता का व्रत लिया । राज्य के व्यक्तिगत झगड़ों में मैं कैसे पड़ सकता हूँ ?

राजकुमारी—क्या राजा-रानी मनुष्य-समाज से अलग हैं ? उन अत्याचार हो, तो क्या आप उनकी सहायता न करेंगे ?

सरदार—मैं तो किसी पर भी अत्याचार सहन नहीं कर सकता। तो अत्याचार को निर्मूल ही करना चाहता हूँ। इस समय न तो ा ही का शासन अच्छा है और न मंत्री ही का हो सकता है। राजा नाममात्र का है, शासन तो मन्त्री ही कर रहा है। किसी तरह

षड्यन्त्र करके राज्य का पूर्ण अधिकार वह अपने हाथ में कर लेगा, त भी शासन का स्वरूप तो वही रहेगा। अतएव मैं इसमें प्रजा के किस कल्याण की कामना से पड़ूँ, यह मैं निश्चय नहीं कर पाता हूँ।

राजकुमारी—पर मुझ पर जो अत्याचार होनेवाला है, उस विषय में भी आप तटस्थ रहेंगे ?

सरदार—नैतिक दृष्टि से राज-परिवार के लोगोंके व्यक्तिगत जीवन में पड़ने का अधिकार मुझे क्या है ? सर्वसाधारण के हित के लिये ही मैं कुछ कर सकता हूँ।

कल्याणी—यदि मेरा विवाह मन्त्री-पुत्र के साथ न होकर किसी लोक-सेवक, कर्त्तव्य-परायण और सदाचारी पुरुष के साथ हो और वह राज्य में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित करने में सफलता प्राप्त करे, तो क्या आपके उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी ?

सरदार—होगी। यहाँ मैं आपसे सहमत हो सकता हूँ। **(प्रसन्न होकर)** बात-चीत की कला में आप बहुत निपुण जान पड़ती हैं; पर मैं केवल एक कल्पना के पीछे अपने और मन्त्री के आदमियों की हत्या में कैसे प्रवृत्त हो सकता हूँ ?

(राजकुमारी चुप होकर निराशा-भरी दृष्टि से सरदार का मुख देखती है।)

सरदार—**(शान्त और गम्भीर मुख-मुद्रा से)** पर आपका तो मुझ पर व्यक्तिगत ऋण है। आपने मेरे प्राण बचाये हैं। क्या आप उसका बदला चाहती हैं ?

राजकुमारी—मैं बदला नहीं चाहती, सरदार !—मैंने तो केवल अपना एक कर्त्तव्य पालन किया था। उसका बदला तो उसी समय मिल गया, जब कि आप दीन-दुखियों के कल्याण के लिए जीवित बच गये।

सरदार—ठीक है, राजकुमारी ! मुझे भी अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। **(कुछ ठहरकर)** आप युद्ध करना जानती हैं ?

राजकुमारी—हाँ, मुझे घोड़े पर चढ़ने और शस्त्र चलाने की शिक्षा मिली है; पर कभी युद्ध करने का प्रसंग नहीं पड़ा।

सरदार—अच्छा, कल आप मन्त्री के विरुद्ध युद्ध छेड़िये। आपके शरीर की रक्षा का भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ, क्योंकि आपने भी मेरा शरीर बचाया था।

राजकुमारी—(आँखों में हर्ष के आँसू भरकर) सरदार! कृपया इस अत्याचार-पीड़ित, दीन और दुःखी पद्मावती का धन्यवाद स्वीकार कीजिए।

सरदार—धन्यवाद की आवश्यकता नहीं, राजकुमारी!

मैं सेवक, सचराचर रूप-स्वामि भगवन्त।

(कुछ रुककर) हाँ, आपने यह तो बताया ही नहीं कि कैद से आप कैसे निकल आईं?

राजकुमारी—शाम के भोजन के पश्चात् मैं मृदुला बहन के कपड़े पहनकर बाहर निकल आई और अपने कपड़े उसे दे आई। अँधेरा काफी हो गया था, फाटक पर पहरे की कोई विशेष पाबन्दी नहीं थी, इससे मैं थोड़ी ही सावधानी से बाहर आ गई।

सरदार—आपको कैसे मालूम हुआ कि मैं यहाँ मिलूँगा?

राजकुमारी—मृदुला बहन को न जाने कैसे आपके सम्बन्ध की अद्भुत-सी बातें मालूम हैं। उसी ने बताया था कि आप बस्ती से तीन-चार मील पूरब तरफ, जङ्गल के बीच में कहीं रहते हैं। बस्ती से बाहर निकलकर मैंने अपने कपड़े पुरुष के-से कर लिये। फिर आपको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती मैं उन दो युवकों को मिली, जो शायद जङ्गल में आपके पहरेदार हैं। उन्होंने मुझे यहाँ तक पहुँचा दिया।

सरदार—आपके पास कोई शस्त्र है?

राजकुमारी—हाँ, आते समय मृदुला बहन के कमरे से मैं उसकी तलवार कपड़ों में चुराकर लेती आई हूँ।

सरदार—क्या देवी मृदुला तलवार चलाना भी जानती हैं?

राजकुमारी—युद्ध-विद्या में उनका अभ्यास मुझसे अच्छा है। वे प्रतिदिन नियमित अभ्यास करती हैं।

सरदार—मगर राजकुमारी! देवी मृदुला ने तो तुम्हारे लिए अपने को संकट में डाल लिया। तुम तो राजकुमारी हो, पिता के क्रोध में पड़कर कुछ समय के लिए महल से बाहर जाने को रोक दी गई हो, यही तुम्हारी कैद है। पर कल प्रातःकाल महल के पहरेदारों को जब तुम्हारे बदले कैदखाने में देवी मृदुला मिलेंगी, तब तुमको भगा देने के अपराध में क्या वे फाँसी या वध की सजा न पायेंगी? मन्त्री उनको क्या जीवित छोड़ देगा?

राजकुमारी—(**यकायक चौंककर, फिर उठकर**) सरदार! मुझे महल में वापस जाने की आज्ञा दीजिए। मैं मृदुला बहन को संकट में डालकर राजपाट और मान कुछ भी नहीं चाहती। मैं अपना प्राण खुशी से दे दूँगी, पर मृदुला बहन के प्राण मैं ले नहीं सकती। मैं अब ठहर नहीं सकती।

सरदार—राजकुमारी! ठहरिये। मैंने आपकी परीक्षा के लिए यह कहा था। देवी मृदुला की रक्षा का भार मुझ पर है। वह राजकुमारी नहीं; वह तो दीन-दुखियों की देवी हैं। उन पर तो हमारी सारी शक्ति समर्पण है।

(सरदार ताली बजाता है। एक तेजस्वी युवक आता है)

सरदार—अशोक! ये सोनपुर की राजकुमारी पद्मावतीजी हैं।

(अशोक राजकुमारी को प्रणाम करता है)

सरदार—ये राजमहल के कैदखाने में देवी मृदुला को अपने स्थान पर छोड़कर महल से निकल आई हैं और कल मन्त्री के विरुद्ध युद्ध-यात्रा करनेवाली हैं। ऐसी दशा में कल प्रातःकाल पता चल जाने पर देवी मृदुला पर संकट आ सकता है। मैं उनके उद्धार का काम तुम्हें सौंपता हूँ। वे दीन-दुखियों की रक्षिणी जगद्धात्री देवी हैं।

(राजकुमारी अशोक को कैदखाने की ताली देती है; कैदखाने का पता बताती है। अशोक आदरपूर्वक सिर झुकाकर सरदार की आज्ञा स्वीकार करता है और फिर चला जाता है।)

राजकुमारी—हाँ, सरदार! एक बात तो मैं भूल ही रही थी। मृदुला बहन ने चलते समय आपसे एक निवेदन करने को कहा था।

सरदार—मैं देवी मृदुला के निवेदन की अपेक्षा उनकी आज्ञा सुनने में अधिक सुख अनुभव करूँगा।

राजकुमारी—उन्होंने सेठ मनोहरलाल को छोड़ देने की प्रार्थना की है।

सरदार—स्वीकार।

(दीपक की बत्ती तेज कर सरदार एक पत्र लिखता है।)

"दीन-दुखियों के कल्याण के लिए तप करनेवाली देवी मृदुला को अधिकार दिया जाता है कि वे जिस समय चाहें, स्वयं आकर, अपने हाथों से मनोहरलाल को हमारे कैदखाने से निकालकर चाहे जहाँ, ले जायँ।"

(सरदार पत्र राजकुमारी को सुनाकर ताली बजाता है। अशोक का प्रवेश। सरदार पत्र को लिफाफे में बन्द करके अशोक को देता है।)

सरदार—अशोक! यह पत्र अपने साथ सुरक्षित ले जाकर देवी मृदुला को दे देना; और इसमें जो कुछ लिखा गया है, उसे पढ़कर वे जो कुछ आज्ञा दें, वैसा कर देने की भी आज्ञा मैं तुम्हें देता हूँ।

(अशोक झुककर स्वीकार करता है और बाहर चला जाता है।)

सरदार—अच्छा, राजकुमारी! अब आप थोड़ा विश्राम कर लें। मैं अपने साथियों को तैयार होने की सूचना दे आऊँ। प्रातःकाल होते ही आप मन्त्री के महल पर चढ़ाई करेंगी। हम लोग आपकी रक्षा करेंगे। माता-पिता का उद्धार संतान के हाथ से हो, इससे बढ़कर उसके लिये गर्व की बात और क्या होगी? इसलिये मैं हृदय से चाहता हूँ कि आप केवल अपनी ही शक्ति से शत्रु को पराजित करें।

(सरदार ताली बजाता है। अशोक का प्रवेश)

सरदार—अशोक ! राजकुमारी दो घंटे विश्राम करेंगी।

अशोक—राजकुमारी के विश्राम के लिये सब प्रबन्ध ठीक

सरदार—(उठकर राजकुमारी से) पधारिये, देवी !

(राजकुमारी अशोक के पीछे-पीछे जाती है। सरदार अकेल निकल जाता है।)

तीसरा दृश्य

समय—रात्रि, तीसरा पहर।

स्थान—राजमहल का कैदखाना।

(अशोक राजमहल के कैदखाने का ताला खोलकर भीतर करता है। चारों तरफ सन्नाटा है। कैदखाने में मृदुला पलँग पर निद्रा में सो रही है। दीपक का मंद-मंद प्रकाश उसके मुख रहा है।)

अशोक—(मन ही मन) अहा ! यही देवी मृदुला हैं ! मुख की ज्योति से तो घर आपसे आप प्रकाशित हो रहा है; दी क्या आवश्यकता थी। कितना सुन्दर मुख है ! कितना निर्मल ह हृदय पवित्र न होता तो कैदखाने में उन्हें ऐसी निश्चिन्त निद्रा कैसे सकती थी ! सुना करता था कि दीन-दुखियों के लिये देवी ने तपस्विनी का व्रत लिया है। धन्य है; इनके माता-पिता को ध **(फिर सोचता है।)** इन्हें जगाऊँ कैसे ? शत्रु के घर में अधिः लगाना भी संकट से रहित नहीं है।

(पैर का शब्द करता है। मृदुला जाग उठती है। सामने एक चित युवक को देखकर चौंक उठती है। शीघ्र ही स्थिर चि उठ बैठती है।)

मृदुला—आप कौन हैं ?

अशोक—मैं डाकुओं के सरदार का सेवक हूँ।

मृदुला—यहाँ क्यों आये हैं ?

अशोक—आपको राजमहल के कैदखाने से बाहर ले जाने के लिये।

मृदुला—डाकू सरदार को कैसे मालूम हुआ कि मैं यहाँ कैदखाने में हूँ ?

अशोक—राजकुमारी पद्मावती ने कहा।

मृदुला—(उत्सुकता से) राजकुमारी वहाँ पहुँच गईं ?

अशोक—हाँ, मैं उनको विश्राम-घर तक पहुँचाकर तब यहाँ आया हूँ।

मृदुला—आप यहाँ कैसे पहुँचे ?

अशोक—महल के पिछवाड़े से रस्सी की सीढ़ी पर चढ़कर।

मृदुला—क्या यह कायरता नहीं ?

अशोक—(कुछ उत्तेजित होकर) निर्दोष पहरेदारों की हत्या करके यहाँ तक पहुँचने की अपेक्षा बुद्धिपूर्वक चुपचाप कार्य सिद्ध कर लेना कायरता नहीं।

मृदुला—क्षमा कीजिये। मैं कैसे विश्वास करूँ कि आप डाकू सरदार ही के भेजे हैं ?

अशोक—मैं एक पत्र लाया हूँ।

(पत्र देता है)

(मृदुला पत्र पढ़ती है। पत्र के नीचे 'जयंत' शब्द पर दृष्टि जाती है; वह चौंक उठती है; पर अपने को शीघ्र ही सँभाल लेती है।)

मृदुला—अच्छा, मैं आप पर विश्वास करती हूँ। कहिये, कहाँ चलना है ?

अशोक—मुझे तो आपको राजमहल के कैदखाने के बाहर कर

देने और पत्र में जो कुछ लिखा है, आपकी आज्ञानुसार उसकी तामील कर देने भर की आज्ञा सरदार ने दी है। बाकी आप स्वतन्त्र हैं।

(मृदुला उठती है। अशोक को लेकर कैदखाने से निकलकर अपनी तलवार लेने के लिये अपने कमरे में जाती है। फिर लौट आती है।

मृदुला—मालूम होता ये, मेरी तलवार राजकुमारी ले गईं?

अशोक—मैं अपने साथ दो तलवारें लाया हूँ। क्या आपको तलवार चलाना आता है?

मृदुला—**(हँसकर)** साधारण।

(अशोक एक तलवार मृदुला को देने लगता है। मृदुला अशोक को अधिक ध्यान से देखती है।)

मृदुला—मैंने आपका नाम तो पूछा ही नहीं।

अशोक—देवी! मेरा नाम अशोक है।

मृदुला—आप कल्याणी माँ के पुत्र हैं?

अशोक—हाँ।

(मृदुला का जी भर आता है, और हर्ष के मारे रोने को जी चाहता है, पर वह अपने को सँभालती है।)

अशोक—आप मेरी माँ को कैसे जानती हैं?

मृदुला—उस अन्नपूर्णा भगवती को कौन नहीं जानता? **(तैयार होकर)** किधर से चलना होगा?

अशोक—जिधर से मैं आया हूँ। पर आपको रस्सी पकड़कर उतरने का अभ्यास है?

मृदुला—**(हँसकर)** आज परीक्षा करूँगी। पर फाटक से होकर चलिये न?

अशोक—यथासंभव रक्तपात से बचने की आज्ञा मेरे सरदार की है।

मृदुला—दीन-दुखियों के रक्षक सरदार की आज्ञा का अक्षरशः पालन अवश्य होना चाहिए।

(दोनों कैदखाने से बाहर निकल जाते हैं।)

चौथा दृश्य

समय—प्रातःकाल।

स्थान—डाकू सरदार की एक गुफा।

(गुफा में मनोहरलाल कैद है। कुसुम कैदखाने का द्वार खोलती है। उस दिव्य ज्योतिवाली देवी को देखकर मनोहरलाल बिछौने पर उठकर बैठ जाता है और टकटकी लगाकर उसे देखने लगता है। कुसुम मनोहरलाल के समीप पहुँचकर प्रणाम करती है।)

मनोहरलाल—**(आश्चर्य से)** तुम कौन हो?

कुसुम—मैं कुसुम हूँ, पिताजी!

मनोहरलाल—**(आँखें फाड़कर)** कुसुम! कुसुम!! कौन कुसुम!!! हरिवल्लभ की कन्या?

कुसुम—हाँ पिताजी! मैं वही कुसुम हूँ।

मनोहरलाल—तुम मेरा वध करने आई हो?

कुसुम—नहीं पिताजी! मैं आपको कुदखाने से छुड़ाने आई हूँ।

मनोहरलाल—**(बिछौने से उतरकर कुसुम के पैरों पर गिर पड़ता है।)** कुसुम! मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ, बेटी!

कुसुम—**(पीछे हटकर)** आप ऐसा न कीजिए, पिताजी! **(कंधा पकड़कर उठाती है।)**

मनोहरलाल—बेटी कुसुम! तुम्हारे सामने खड़े होते मुझे लज्जा आती है। **(सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है और रोता है।)**

कुसुम—पिताजी। मनुष्य से भूल न होती तो वह देवता ही न हो जाता! पश्चात्ताप ही उसका प्रायश्चित है। अब जो जीवन अभी शेष है, उसे उत्तम कामों में लगाकर आप मन का क्षोभ मिटाइये। धैर्य रखिये।

मनोहरलाल—(**सिर पर हाथ रखकर**) हाय! अब से दस-पंद्रह वर्ष पहले मैं एक चरित्रवान् व्यक्ति समझा जाता था। कुसङ्गति में पड़कर मैं कहाँ तक पतित हो गया! हे ईश्वर! मुझे नरक में भी टिकाना न मिलेगा। देवी! तुम मेरा उद्धार करने के लिये ही पृथ्वी पर आई हो। इस पापी के सिर पर हाथ रखकर कहो कि तुमने इस नराधम को क्षमा किया।

कुसुम—(**मनोहरलाल के सिर पर हाथ रखकर**) पिताजी! धैर्य मत छोड़िये। मनुष्य से भूल हो ही जाती है। आपके लिये मेरे मन में कोई विरोध का भाव नहीं है, आप मेरा विश्वास कीजिये। अब आप उठिये; समय बहुत कम है; मुझे और भी आवश्यक काम हैं। आप जहाँ कहें, मैं आपको पहुँचा दूँ।

मनोहरलाल—(**कुछ सोचकर**) अच्छा, क्या तुम मुझे चोरी से छुड़ाने आई हो? चोरी से नहीं भागूँगा बेटी!—मेरा धन गया, धर्म गया, पर बेटी! आत्माभिमान अभी शेष है।

कुसुम—नहीं, पिताजी! मैं स्वयं चोरी करना पसंद नहीं करती। (**आज्ञा पत्र दिखाती है**) इस आज्ञा पत्र के द्वारा मैं आपको बाहर ले जा रही हूँ।

मनोहरलाल—मुझे अशोक की माँ के पास पहुँचा दो। उस सती-साध्वी, मेरे घर की लक्ष्मी, तपस्विनी के पैरों पर गिरकर मैं उससे क्षमा मागूँगा। मैंने उसे बड़ा कष्ट दिया है, कुसुम!

(**कुसुम मनोहरलाल को लेकर बाहर जाती।**)

——

पाँचवाँ दृश्य

समय—वही।

स्थान—गुफा का द्वार।

(मनोहरलाल को बाहर खड़े हुये रथ पर बैठाकर कुसुम अशोक से बात कर रही है।)

कुसुम—अशोक ! आप अपने पिताजी से नहीं मिलेंगे ?

अशोक—नहीं ! सरदार की आज्ञा नहीं है।

कुसुम—अच्छा, आगे का कार्य-क्रम क्या है ?

अशोक—सरदार अपने साथियों के साथ राजकुमारी पद्मावती की सहायता के लिये बड़े सबेरे ही चले गये।

कुसुम—यहाँ और कोई नहीं ?

अशोक—हैं क्यों नहीं ? गृह-रक्षा का पूरा प्रबंध है।

कुसुम—मुझे नहीं मालूम, कल्याणी माँ किस घर में रहती हैं। पिताजी वहीं जाना चाहते हैं।

अशोक—आप रथ में बैठकर चलिये, मैं पीछे-पीछे घोड़े पर आता हूँ। घर बताकर मैं भी सरदार के पास चला जाऊँगा।

कुसुम—क्या मेरे लिये आप एक घोड़े का प्रबंध कर सकते हैं ?

अशोक—अवश्य। आप चलिये ! माँ के द्वार पर आपको घोड़ा तैयार मिलेगा। घोड़ा किसलिये चाहिए, देवी !

कुसुम—पिताजी को कल्याणी माँ के सिपुर्द कर देने के बाद मेरा कार्य समाप्त हो जाता है। फिर मैं राजकुमारी की सहायता के लिए शीघ्र जाना चाहती हूँ।

अशोक—इस समय तो मन्त्री के घर पर राजकुमारी युद्ध में प्रवृत्त होंगी। राजमहल से निकलने के बाद ही आप राजकुमारी से मिल लिये होतीं तो अच्छा था।

कुसुम—सरदार और उनके साथी कहाँ हैं ?

अशोक—वे राजकुमारी के साथ हैं। वे केवल राजकुमारी के शरीर की रक्षा करेंगे; आक्रमण नहीं करेंगे।

कुसुम—**(गम्भीर मुख-मुद्रा से आप ही आप)** राजकुमारी अकेली युद्ध करने गई हैं। उन्होंने बड़े साहस का काम किया है। यद्यपि डाकू सरदार और उनके साथी राजकुमारी की रक्षा करेंगे, पर राजकुमारी को सहायता की और भी आवश्यकता है; पर **(प्रकट)** कल्याणी माँ का काम सबसे पहले और बाकी संसार का काम पीछे।

अशोक—**(कुसुम के चेहरे को देखकर)** धन्य हो, देवी!

(कुसुम भी रथ में बैठ लेती है। रथ चलता है।)

छठा दृश्य

समय—प्रातःकाल।

स्थान—मन्त्री के महल का फाटक।

(डाकू सरदार और उसके साथी मन्त्री के महल के पास एक स्थान पर एकत्र हैं। राजकुमारी सबके सामने है। मन्त्री की तरफ सेनापति तथा राज्य के अन्य सरदार और बहुत से सैनिक खड़े हैं।)

मन्त्री—**(सरदार से)** डाकुओं के सरदार! मैंने तुम्हारे अन्य कितने ही अपराधों के साथ तुम्हारे बारे में यह अच्छी बात भी सुन रक्खी है कि तुम विवेकवान् व्यक्ति हो। देखने से भी तुम भले आदमी दिखाई पड़ते हो। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम राज्य के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करो।

सरदार—मन्त्रीजी! मैंने केवल राजकुमारी के शरीर की रक्षा

का भार अपने ऊपर लिया है; क्योंकि आप जानते हैं, उन्होंने राज-महल में मेरे प्राण बचाये थे।

मन्त्री—माता-पिता और राज्य से विश्वासघात करनेवाली राज-कुमारी का पक्ष तुम क्यों लेते हो ?

सरदार—मैं अपना कर्त्तव्य पालन कर रहा हूँ।

मन्त्री—तो मुझे पहले तुमसे निपट लेना पड़ेगा।

सरदार—(हँसकर) इससे राजकुमारी का मार्ग और भी सरल हो जायगा।

(मन्त्री सेनापति को इशारा करता है।)

सेनापति—(सैनिकों से) मेरे बहादुर सिपाहियों ! इस बदमाश डाकू और इसके साथियों को टुकड़े-टुकड़े कर डालो।

(सैनिक टस से मस नहीं होते।)

सेनापति—(क्रोध से) मैं आज्ञा देता हूँ कि इन बदमाशों को यम के घर भेज दो।

(फिर सन्नाटा)

सेनापति—(अधिक उत्तेजित होकर) सैनिको ! तुमने राजा का नमक खाया है; मैं उसकी याद दिलाकर तुमको कहता हूँ कि अपना कर्त्तव्य पालन करो।

एक सैनिक—हम किसके साथ युद्ध करें ? डाकू सरदार हम पर आक्रमण करने नहीं आये हैं, वे राजकुमारी की रक्षा करने आये हैं। और राजकुमारी के विरुद्ध हम शस्त्र नहीं उठायेंगे।

(परिस्थिति को सँभालने के लिये मन्त्री अपने विश्वासी नौकरों को कहता है।)

मन्त्री—राजद्रोह के अपराध में राजकुमारी को कैद की सजा मिली थी। यह कैदखाने से भागकर आई है। इसे गिरफ्तार कर लो।

(कुछ सिवाही आगे बढ़ते हैं। राजकुमारी तलवार लेकर आगे आती है।)

राजकुमारी—धूर्त ! नरक के कीड़े ! स्वामि-द्रोही मन्त्री ! गरीब सिपाहियों को मुझे पकड़ने के लिये क्यों भेजता है ? तू क्यों नहीं आगे आता ?

(मंत्री तलवार खींचकर अपने सिपाहियों के साथ झपटता है। राजकुमारी अकेले सब का सामना करती है।)

सरदार—शाबाश राजकुमारी ! **(अपने एक साथी से)** देखते हो, राजकुमारी अकेली कितनों का मुकाबला कर रही हैं ! इनका तलवार चलाना, शत्रुओं के वार को रोकना, पैंतरे बदलना सब अद्भुत है न ? इनके चेहरे पर शौर्य दमक रहा हैं। कहीं राजा-रानी इस समय अपनी इस संतान को देखते, तो उनके हर्ष का ठिकाना न होता।

(राजकुमारी ने मन्त्री के सब सिपाहियों को घायल करके गिरा दिया। मन्त्री महल के अंदर भाग गया। राजकुमारी विजयिनी होकर मैदान के बीच में खड़ी होगई। सेनापति ने राजकुमारी को पकड़ने के लिये पीछे से आक्रमण किया। यह देखकर सरदार आगे बढ़ता है।)

सरदार—सेनापति ! मैं राजकुमारी का शरीर-रक्षक हूँ। राजकुमारी के शरीर पर हाथ नहीं लगा सकते।

(सेनापति सरदार पर झपटता है। सरदार के एक ही वार से सेनापति की तलवार उसके हाथ से छूटकर अलग जा पड़ती है।)

सरदार—(हँसकर) सेनापति ! अपनी तलवार उठा लो, या दूसरी ले लो। मैं शस्त्रहीन पर वार नहीं करता।

(सेनापति चुप खड़ा रहता है। तलवार उठाने का उसे साहस नहीं होता। यह देखकर सारी सेना हँसती है।)

(सेनापति चुपचाप चला जाता है।)

राजकुमारी—(सरदार के पास आकर) सरदार ! मन्त्री भीतर या है। वह मेरे माता-पिता पर अत्याचार कर सकता है। हमें शीघ्र स घर पर अधिकार कर लेना चाहिये।

सरदार—राजकुमारी ! तुम आगे चलो। तुम्हारे शरीर को कोई ानि नहीं पहुँचा सकता।

(सरदार राजकुमारी के पीछे जाता है।)

(फाटक पर सेनापति का फिर आक्रमण। सरदार के साथी बड़ी वीरता से सेनापति को फाटक के अंदर जाने से रोकते हैं।

दूर पर दो सवार तेजी से उसी ओर आते दिखाई पड़ते हैं—कुसुम और अशोक। फाटक पर पहुँचकर दोनों घोड़े से कूद पड़ते हैं। कुसुम सिंहिनी की तरह शत्रुओं पर टूट पड़ती है। सेनापति और उसका पुत्र घायल होकर गिर पड़ते हैं। सरदार के साथियों ने उनके हाथ-पैर बाँधकर उन्हें कैद कर लिया। बाकी सिपाहियों को अशोक ने मार भगाया।)

सातवा दृश्य

समय—दिन का पहला पहर।

स्थान—मंत्री के महल के भीतर का कमरा।

(पद्मावती महल के एक स्थान पर रुककर कान लगाकर सुनती है। एक तरफ से आवाज आती है।)

आवाज—हे ईश्वर ! पद्मावती की रक्षा तुम करना।

राजकुमारी—(सरदार से) यह मेरे पिता की आवाज है।

(राजकुमारी फिर कान लगाकर सुनती है।)

मंत्री की आवाज—महाराज ! आप इस पर हस्ताक्षर कर दें नहीं तो आपके प्राण भी जायँगे और पद्मावती तो मेरी होगी ही।

राजकुमारी—(सरदार से) यह मन्त्री की आवाज है।

राजा की आवाज—विश्वासघाती ! कायर मन्त्री ! मेरे प्राण भले ही जायँ, मैं पद्मावती का अनिष्ट अपने हाथ से नहीं कर सकता।

राजकुमारी—सरदार ! यह मेरे पिताजी की आवाज है। इसी तहखाने में से आवाज आ रही है। हाय ! मेरे कारण मेरे पिता के प्राण संकट में हैं। यह लोहे का द्वार खुले बिना मैं पिताजी को नहीं बचा सकती।

(राजकुमारी कातर-दृष्टि से सरदार का मुँह देखती है)

सरदार—राजकुमारी ! मेरे लिये आपने द्वार खोला था, मैं इसे आपके लिये खोलता हूँ।

(सरदार दरवाजे पर धक्का मारता है। लगातार तीन धक्कों में लोहे का दरवाजा टूट जाता है।)

राजकुमारी—(आप ही आप) अहा ! सरदार में हाथी का-सा बल, सिंह का-सा पराक्रम और पर्वत के समान धैर्य है।

(मंत्री, उसका पुत्र और दो वधिक तलवारें लेकर निकल आते हैं, और हमला करते हैं। राजकुमारी अकेले उनका मुकाबला करती है। सरदार अकेला राजकुमारी पर पीछे से होनेवाले आक्रमणों को रोकता है। मन्त्री, मन्त्री का पुत्र और दोनों वधिक घायल होकर भागते हैं। सरदार के साथी, जो पीछे आकर खड़े थे, उन्हें पकड़ लेते हैं और हाथ पाँव बाँधकर बाहर ले जाते हैं। अशोक वहीं खड़ा रहता है।

सरदार—राजकुमारी ! अब आपके मुख्य-मुख्य शत्रु पकड़ लिये गये। मैं इन्हें अपने यहाँ ले जाकर कैद कर देता हूँ। आपकी आज्ञा पाकर ही ये छोड़े जायँगे। अब आप मुझे जाने की आज्ञा दीजिये अब कोई भय नहीं। मैं आपकी सहायता के लिये अपने साथियों को बाहर छोड़े जाता हू।

राजकुमारी—सरदार ! आप मेरे माता-पिता से न मिलेंगे ? उनका और मेरा हार्दिक धन्यवाद तो ग्रहण किये जाइये ।

सरदार—मैंने अपना कर्त्तव्य पालन किया, इसमें धन्यवाद की आवश्यकता क्या है, राजकुमारी !—और राजा का स्वाभिमानी मन कभी इस बात से प्रसन्न नहीं होगा कि उनका छुटकारा एक डाकू की सहायता से हुआ । अतएव आप मुझे जाने ही दें ।

(सरदार उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही राजकुमारी को अभिवादन करके फिर अशोक की तरफ मुड़कर)

सरदार—अशोक !

अशोक—जो आज्ञा, सरदार !

सरदार—मैं जाता हूँ । तुम अपने साथियों को लेकर राजकुमारी को राजमहल में सुरक्षित पहुँचाकर और वहाँ भी उनकी रक्षा का समुचित प्रबन्ध करके तब मुझसे आकर मिलो । मैं सब बन्दियों को अपने साथ लिवाये जाता हूँ ।

(सरदार जाता है । सामने से कुसुम आती हुई मिलती है । सरदार उसे भी अभिवादन करता है ।)

कुसुम—**(मन ही मन)** यही मेरा भाई जयन्त है । हृदय को कैसे रोकूँ ! जी चाहता है कि दौड़कर भाई के गले से लिपट जाऊँ । वीर भाई ने अपनी बहन के अपमान का बदला कितनी लम्बी तपस्या करके लिया है ! धन्य है, भइया ! तुमको धन्य है ! हाय !—जयन्त को अपनी बहन कुसुम की कुछ भी खबर नहीं है । स्त्री-जाति के प्रति उसके नेत्रों में इतना शील है कि उसने एक बार मेरे मुख की ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं । देखता तो जरूर पहचान लेता ।

(राजा, रानी, राजकुमारी बाहर आते हैं । राजकुमारी दौड़कर कुसुम को गले से लगा लेती है । कुसुम राजा, रानी को प्रणाम करती है और बाहर का हाल सुनाती है । राजा और रानी क्रमशः उसे छाती से लगा लेते हैं । रानी उसे बहुत देर तक चिपकाये रखती है ।)

राजकुमारी—पिताजी ! सिपाहियों ने आज पूरी राजभक्ति दिखलाई। सेनापति और मन्त्री के बार-बार कहने पर भी सिपाहियों ने मेरे विरुद्ध शस्त्र उठाना स्वीकार नहीं किया।

(राजा प्रसन्नता प्रकट करता है। राज-परिवार के लोग राजमहल को जाते हैं। अशोक का दल उनके आगे-पीछे चलता है। राजा के सिपाही भी साथ जाते हैं।)

आठवाँ दृश्य

समय—पहर दिन चढ़े।

स्थान—नदी-तट।

(वन में राजकुमारी पद्मावती का प्रवेश)

राजकुमारी—(वन में पहरेदार युवक से) भाई ! मैं सरदार से मिलना चाहती हूँ।

युवक—(सादर प्रणाम करके) राजकुमारी ! आपके लिये सरदार ने आज्ञा दे रक्खी है कि आप किसी समय आवें, आपको कोई न रोके। सरदार नदी-तट पर बैठे हैं। आप इस मार्ग से (मार्ग दिखाता है) चली जायँ। सामने ही नदी-तट है।

(राजकुमारी युवक को धन्यवाद देकर आगे जाती है। सरदार नदी-तट पर एक सुन्दर शिला पर बैठकर गा रहा है। राजकुमारी एक वृक्ष की ओट में खड़ी होकर उसका गान सुनती है और कागज पर लिखती जाती है।)

सरदार—(गाता है)

आओ, आओ, मधुर बसंत !
मेरे विश्व-सदन में आओ।

फूलों में मुसकाते आओ पंखड़ियों में गाते।
बन में रस बरसाते आओ लहरों में लहराते।
मेरे विश्व-सदन में आओ॥
मन की नीरवता में आओ प्रिय की याद जगाते।
आओ प्रेमी के मंदिर में विरह-प्रदीप जलाते।
मेरे विश्व-सदन में आओ॥
यौवन के स्वप्नों में आओ नूतन खेल दिखाते।
द्वार खुले हैं जीवन-गृह के क्यों न यहीं बस जाते।
मेरे विश्व-सदन में आओ॥
दीन-दुखी देशों में आओ युवकों को हुलसाते।
स्वतंन्त्रता की वलि-वेदी पर प्राण-समूह चढ़ाते।
मेरे विश्व-सदन में आओ॥

सरदार--(आपही आप) आज जगत् में बसंत का प्रवेश हो रहा है। मैंने भी पतझड़ की तरह मनुष्य-समाज से सड़ी-गली पुरानी पत्तियाँ तोड़कर फेंक दीं; अब बसंत की तरह उसमें नवीन रस का संचार करके उसे सुन्दर बनाना है। आज से मेरे जीवन में भी शिशिर का अंत और बसंत का आरंभ होगा।

(गान समाप्त होने पर राजकुमारी धीरे-धीरे सरदार के पास जाती है। सरदार गान के बाद नदी की धारा पर दृष्टि स्थिर करके विचार-मग्न है। राजकुमारी आँचल से फूल निकालकर पीछे से उस पर पुष्प-वृष्टि करती है। सरदार चकित होकर पीछे देखता है।)

सरदार--(खड़े होकर राजकुमारी को अभिवादन कर) ओहो, पद्मावती! तुम यहाँ कैसे आ गईं?

राजकुमारी--(अपना नाम और 'आप' के बदले 'तुम' शब्द सुनकर राजकुमारी को रोमाञ्च हो आता है।) जैसे तुम आये थे, जयंत!

जयंत—(हँसकर) मेरा नाम तुमने कहाँ से पा लिया ?

राजकुमारी—मृदुला बहन को तुमने पत्र लिखा था, उससे ।

जयंत—(आँखों में जल-रेखाओं-सहित) अशोक से सुना है कि उस दिन देवी मृदुला ने शत्रुओं को पराजित करने में ऐसा शौर्य दिखलाया था, जैसा किसी पुरुष से भी होना कठिन है। और अशोक ने यह भी बताया था कि वे घोड़े पर चढ़ना ऐसा अच्छा जानती हैं, जैसा मैं भी नहीं जानता । तलवार चलाने की कला में भी निपुण हैं ।

राजकुमारी—(हँसकर) क्या शौर्य पर पुरुषों ही का अधिकार है ?

जयंत—नहीं पद्मावती ! शौर्य प्रत्येक सद्गुणी की सम्पत्ति है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष । तुम्हारा शौर्य क्या किसी से कम है ? उस दिन मैंने प्रत्यक्ष देखा है । (कुछ क्षण बाद) अच्छा, राजकुमारी ! मेरे मुँह से आपके लिए 'तुम' निकल गया था, इसके लिए क्षमा कीजिये ।

राजकुमारी—क्यों निकल गया था ?

जयंत—पता नहीं ।

राजकुमारी—(मन में) हृदय ! धैर्य धर । सरदार मुझे अब अपना समझने लगे हैं । (प्रकट) मुझे 'आप' से 'तुम' अधिक प्रिय लगता है ।

जयंत—(हँसकर) और 'तू' ?

राजकुमारी—'तुम' से भी अधिक ।

जयंत—(हँसकर) देवी मृदुला ने तुमको हरएक विषय में निपुण बना दिया है । पद्मावती ! मैंने अभी तक तुमको बैठने के लिए तो कहा ही नहीं । चलो, स्थान पर चलें । यहाँ तो तुम्हारे उपयुक्त कोई आसन नहीं ।

राजकुमारी—नहीं जयंत ! मैं खड़ी ही खड़ी बात करके शीघ्र वापस जाऊँगी ।

जयंत—अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा । यह नदी-तट तुमको सुहावना लगता है न ?

राजकुमारी—तुम्हारी उपस्थिति से यह और भी सुन्दर हो गया है। तुम सौंदर्य को कैसा समझते हो ?

जयंत—बहुत ही प्यारी चीज। संसार में सौंदर्य न होता तो मनुष्य जंगली जानवरों की तरह खूँखार ही रह जाता। सौंदर्य से हृदय पवित्र और कोमल हो जाता है। सौंदर्य आत्मा को ऊँचा उठाता है।

राजकुमारी—**(उधर ध्यान न देकर)** जयंत ! आज बसन्त-पंचमी है; मैंने इसी से आज बसन्ती रंग की साड़ी पहनी है। तुमको बसन्ती रंग कैसा लगता है ?

जयंत—बहुत सुदर।

(यकायक उसका मुख गम्भीर हो जाता है और उसकी आँखों से दो बूँद आँसू गिर पड़ते हैं।)

राजकुमारी—जयंत ! यह क्या ? क्या मैंने कोई अप्रिय बात कह दी ?

जयंत—नहीं पद्मावती ! तुमने मुझे बहुत ही प्यारी चीज का स्मरण दिला दिया है। मेरी माँ का नाम बसंती था।

(जयंत यकायक चुप हो जाता है; क्योंकि वह अपना परिचय नहीं देना चाहता था)

राजकुमारी—**(विषय बदलने के लिये)** माँ सचमुच ही बड़ी प्यारी चीज है। अच्छा, जयंत ! तुम संस्कृत जानते हो ?

जयंत—हाँ। और तुम ?

राजकुमारी—मैं भी। मृदुला बहन तो संस्कृत की पंडिता हैं न ! उन्हीं से सीखा है। अच्छा, मैं तुम्हारी परीक्षा लेती हूँ।

जयंत—**(हँसकर)** लो।

राजकुमारी—**(एक फूल दिखाकर)** यह क्या है ?

जयंत—**(हँसकर)** फूल। वाह ! जैसे तुम पाठशाला में किसी लड़के को पढ़ा रही हो ?

राजकुमारी—थोड़ी देर के लिए मान लो, मैं तुमको पढ़ा ही रही हूँ।

जयंत—(**खूब हँसकर**) और मैं एक छोटा-सा बालक हूँ। अच्छा, आगे चलो।

राजकुमारी—संस्कृत में इसके कौन-कौन से पर्यायवाची शब्द हैं ?

जयंत—पुष्प।

राजकुमारी—और ?

जयंत—सुमन।

राजकुमारी—और ?

जयंत—(**सोचता है**)

राजकुमारी—अब तुम हार गये, मैं बताती हूँ।

जयंत—(**हँसकर**) अच्छा, तुम बताओ; मैं हार मानता हूँ।

राजकुमारी—कुसुम।

जयंत—हाँ, ठीक है। (**यकायक मुख-मुद्रा गंभीर होजाती है।**)

राजकुमारी—फिर तुम कहीं चले गये ?

जयंत—मुझे मेरी प्यारी बहन कुसुम की याद आ गई।

(**जयंत के नेत्र भर आते हैं**)

जयंत—पद्मावती ! आज तुम कितना बड़ा तूफान लेकर आई हो ! मैंने अपने सम्बन्ध में किसी को कुछ न कहने का निश्चय किया था, पर स्वभाव सबसे प्रबल होता है।

राजकुमारी—अच्छा, तुम्हारी कुसुम को कोई तुमसे मिला दे, तो उसे तुम क्या दोगे ?

जयंत—मेरे पास तो दीन-दुखियों की सेवा है।

राजकुमारी—तो कुसुम के लिये तुम्हारे नेत्रों में से आँसू कहाँ से आये थे ?

जयंत—वे आँसू मेरी सीमा के बाहर से आये थे। मैं उनका उद्गम-स्थान नहीं जानता।

राजकुमारी—अच्छा, दीन-दुखियों की सेवा तो दे सकते हो ?

जयन्त—खुशी से।

राजकुमारी—मेरी मृदुला बहन ही तुम्हारी कुसुम है।

(जयन्त की आँखें डबडबा आती हैं)

जयन्त—**(कुछ ठहरकर)** पद्मावती ! इस अत्यन्त सुखदायक समाचार के लिये यह गरीब तुम्हें क्या दे ?

राजकुमारी—दीन-दुखियों की सेवा।

(वह राजकुमारी के नेत्रों से दृष्टि मिलाकर देखने लगता है।)

राजकुमारी—अच्छा, जयन्त ! जाने दो; मैं नहीं जानती थी कि तुम कुसुम का नाम सुनकर इतना गम्भीर हो जाओगे। आज बसन्त है, आज उदास होना ठीक नहीं।

जयंत—कुसुम से बिछुड़े आज दस-बारह बरस हो गये। मेरी उस बालिका बहन को दुष्ट मनोहरलाल के सिपाही जबरदस्ती उठा ले गये थे। तब से उसका पता ही न चला। हा, कुसुम ! एक ही रक्त-मांस के बने हुये हम दो पुतले हैं, इससे इतना आकर्षण है।

राजकुमारी—अच्छा जी, तुम तो कहाँ से कहाँ चले गये ! मैं जाती हूँ।

जयन्त—नहीं, राजकुमारी ! ठहरो; तुम मुझे बहुत प्रिय लग रही हो। ठहरो, मैं तुमसे बातें करता हूँ।

राजकुमारी—अच्छा, तुम्हारा स्वर तो बहुत मधुर है ! तुम बहुत ही अच्छा गाते हो।

जयन्त—तुमने कहाँ सुना ?

राजकुमारी—तुम गा रहे थे, तब मैं पेड़ की आड़ में खड़ी सुन रही थी।

(जयन्त आँखें मूँदकर सुनता है।)

जयन्त—तुम भी तो गाना जानती हो। एक सुनाओ न ?

राजकुमारी—अच्छा, सुनाती हूँ, सुनो। **(गाती है)**

हम खोज-खोज गये हार-हार।
गिरि बन निकुंज घर बार-बार।
कौन सी नगरी बसे हो मेरे मोहन!
जाऊँ कहाँ मेरे प्रेम निकेतन!
हुई देर अब खोलो द्वार।

जयन्त—तुम्हारा स्वर बड़ा मधुर है। तुमने संगीत-शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया है। पर क्या चोरी करना भी कुसुम ने तुमको सिखा दिया है?

राजकुमारी—(मुसकराकर) तुमको किसने सिखाया?

जयन्त—मैंने क्या चुराया।

राजकुमारी—(हँसकर) हृदय।

जयन्त—(गंभीर होकर) पद्मावती! मैं कोई चीज चुराकर उसे रक्खूँगा कहाँ? जगह कहाँ है? सारा घर एक ही चीज से भरा हुआ है। वह है दीन-दुखियों का आर्त्तनाद।

राजकुमारी—जयन्त! यदि दीन-दुखियों की सेवा में तुमको कोई सहायता पहुँचाये, तो तुम उसे प्यार करोगे?

जयन्त—अवश्य।

राजकुमारी—मैं राज-सुख को लात मारती हूँ। मुझे तुम इस सेवा में ले लो।

जयन्त—पद्मावती! यह प्रेम का पंथ बड़ा कठिन है। इसमें दुःख ही दुःख है और पीड़ा ही आराम है। राज-सुख में पली हुई एक राजकुमारी से यह मार्ग नहीं चला जायगा।

राजकुमारी—प्रियतम! मैं उसी प्रेम के पंथ पर काँटों पर चलूँगी; भूखी-प्यासी रहकर स्वर्गीय सुख का आनन्द अनुभव करूँगी; झोपड़ी में रहकर महलों के सुख को तुच्छ समझूँगी; दीन-दुखियों की सेवा करके, तुम्हारे चेहरे पर प्रसन्नता की एक रेखा उत्पन्न करके, मैं उस पर अपना सर्वस्व निछावर कर दूँगी; तुम्हारे प्रेम की वेदना मेरे

जीवन के चारोंओर रात-दिन महासागर की लहरों की तरह नृत्य करेगी।

जयंत—पद्मावती! आवेश में कोई कार्य कर बैठना ठीक नहीं। सोच-समझ लो। प्रकाश को आगे लेकर चलो, पीछे रक्खोगी तो तुम्हारी ही छाया तुम्हारे मार्ग को अंधकारमय बना देगी। प्रेम का पेट साधारण त्याग से नहीं भरता।

राजकुमारी—जयन्त! तुम पुरुष हो। स्त्री के हृदय की महिमा नहीं जानते हो। उसे धुन सवार हो जाय तो वह नरक को स्वर्ग और स्वर्ग को नरक बना सकती है।

(सरदार गंभीर हो जाता है।)

राजकुमारी—मुझे धन नहीं चाहिये, सुख नहीं चाहिये, मुझे केवल सच्चा प्रेम चाहिये।

जयंत—मुझमें तुमने सच्चा प्रेम की कल्पना कैसे की?

राजकुमारी—सच्चे प्रेम सेवाभाव के बिना हृदय में आ ही नहीं सकता। तुम वीर हो, सदाचारी हो, तुम्हारा ही हृदय प्रेम का सच्चा निवास-स्थान है। मेरे जीवन के प्रकाश! मैं तुम्हारे उसी प्रेम में विलीन होना चाहती हूँ; द्वार खोल दो।

(सरदार सोच रहा है।)

राजकुमारी—जयन्त! मैं तुम्हारे साथ ऐहिक भोग-विलास की लालसा से नहीं आना चाहती हूँ; आत्मा की सद्गति के लिये आ रही हूँ।

जयंत—**(प्रसन्न मुख-मुद्रा से)** पद्मावती! तुम बाहर जितनी सुन्दर हो, उतनी ही भीतर भी हो।

राजकुमारी—**(प्रसन्न होकर)** मेरा बाहरी सौन्दर्य तुमको प्रिय है?

(जयन्त ध्यान से देखता है)

राजकुमारी—मेरा सौन्दर्य मेरे नेत्रों में है। मुझे लोग पद्मावती

कहते हैं। जयन्त ! मेरा सौन्दर्य तुम्हारे प्रेम के दर्पण में है और भी निखर उठेगा।

(जयंत देर तक ध्यान से देखता है।)

राजकुमारी—जयन्त ! क्या देख रहे हो ?

जयन्त—तुम्हारे सौन्दर्य में सौन्दर्य के विधाता का दिव्य रूप। अहा ! कैसा सुन्दर दृश्य है ! सरिताएँ संगीत कर रही है; समुद्र की तरंगें उचक-उचक कर उस रूप को देखना चाहती हैं; पर्वत उसे देख कर ठकरा गये हैं; सूर्य चन्द्रमा और तारागण उसके चारों ओर आनन्द के मारे नृत्य कर रहे हैं। कैसा अद्भुत दृश्य है ! तुम भी देखो, पद्मावती !

राजकुमारी—कहाँ देखूँ ?

जयन्त—कमल ऐसे नेत्रों में।

राजकुमारी—जयंत ! मैं उसी दिव्य रूप के दर्शन के लिए तुम्हारी जीवन-संगिनी होना चाहती हूँ।

जयंत—तुम्हारे जीवन पर तुम्हारा अधिकार है ?

राजकुमारी—है; क्योंकि मैं उसे त्याग भी सकती हूँ।

जयंत—दीन-दुखियों की सेवा से और तुम्हारे विवाह से क्या सम्बन्ध है ?

राजकुमारी—क्योंकि मैं तुम्हें अपना कह सकूँगी और फिर तुममें विलीन हो जाऊँगी।

जयंत—**(कुछ सोचकर)** शारीरिक सुख-भोग की लालसा से नहीं; केवल आत्मोन्नति के लिए, दीन-दुखियों की सेवा के लिए, मनुष्य समाज में आनन्द और सुख की वृद्धि के लिए मैं तुमको जीवन-संगिनी बनाना स्वीकार करता हूँ। तुमको भी स्वीकार है ?

(राजकुमारी के नेत्रों में हर्ष के आँसू आ जाते हैं। वह साड़ी के अंदर से फूलों की एक माला निकालती है और सरदार के गले में पहना देती है।)

राजकुमारी—मेरे नाथ ! तुमको प्रारम्भ में तुम्हारी पूजनीया माता और बहन कुसुम की याद दिलाकर मैंने जो कष्ट पहुँचाया है, उसकी क्षमा चाहती हूँ। मृदुला बहन के आग्रह से यह जाँच करने के लिए कि तुम वास्तव में उसके भाई जयंत हो, या नहीं; मैंने यह युक्ति की थी।

जयंत—पद्मावती ! कुसुम मेरी बहन है; उसके लिए मैं जितना हर्ष और विषाद का अनुभव करता हूँ, उतना ही समाज की सब बहनों के लिए करने लगूँ, तब तपस्या सफल हो और आत्मा का दिव्य रूप दिखाई पड़ने लगे। अच्छा, विवाह की बात तो तुम्हारी निजी है; तुम्हारे माता-पिता की भी सम्मति तो होनी चाहिये।

राजकुमारी—इस समय तो मैं पिताजी की आज्ञा से तुमको राजमहल में पधारने का निमन्त्रण देने आई हूँ। तुम आओगे तो विवाह की बाकी बातें वहीं होंगी। आओगे न ?

जयंत—अच्छी बात है; आऊँगा। **(फिर हँसकर)** राजा की मुझ पर कृपा तुम्हारे कारण से हुई जान पड़ती है !

राजकुमारी—नहीं, जयंत ! मेरे माता-पिता बड़े ही अच्छे स्वभाव के हैं; मन्त्री दुष्ट है, उसने उनको विवश करके राज में अत्याचार फैला रक्खे थे। तुम्हारी कृपा से राज में पापाचार कम हो गये। मेरे पिता के आस-पास का वातावरण पवित्र हो गया। अब वे अपने स्वाभाविक रूप में बड़े प्रिय हो गये हैं। मैं तुमको दे दी जाऊँ, यह प्रस्ताव मेरी माता ने पिताजी के सामने रक्खा था।

जयंत—यकायक ?

राजकुमारी—नहीं, राजमहल में आकर, स्वस्थ होकर, पिताजी ने एक-एक करके मुझसे सब समाचार सुने और वे तुम्हारे चरित्र पर मुग्ध हो गये। फिर उन्होंने 'माताजी से पूछा कि सरदार को इस उपकार के बदले में क्या उपहार दिया जाय ? माता जी ने कहा—पद्मावती। अच्छा, अब देर हो रही है। ये बातें फिर कभी बताऊँगी। तुम आओगे न ?

जयंत--(हँसकर) तुमको डाकू पर विश्वास नहीं है ?

राजकुमारी--(हँसती हुई प्रणाम करती है।) कैसे विश्वास हो ? अब की बार तुमने राज्यकन्या पर डाका डाला है; इसे भी दीन-दुखियों में बाँट देना।

(राजकुमारी एक कटाक्ष करके जाती है। सरदार ध्यान में मग्न हुआ अपने स्थान की ओर जाता है।)

नवां दृश्य

समय—दिन का चौथा पहर

स्थान—राजमहल

(राजमहल सजाया हुआ है। एक शामियाने के नीचे बहुत-सी कुरसियाँ और तख्त कायदे से रक्खे हैं। राजा, रानी और उनके सरदार तथा राज्य के प्रमुख व्यक्ति उन पर बैठे हैं। जयंत अकेला महल के अन्दर आता है। राजा उठकर उसका स्वागत करता है। जयंत प्रणाम करता है। राजा उसे ले जाकर एक सुन्दर कुरसी पर बैठा देता है। राज्य के सरदार और प्रमुख व्यक्ति भी खड़े होकर जयंत को प्रणाम करते हैं।)

राजा—पुत्र जयंत ! आज तुमको देखकर मेरा हृदय शीतल हो रहा है।

(जयंत राजा के नेत्रों में आनंद अनुभव करता है।)

राजा--तुम अकेले ही आये ?

जयंत—महाराज ! मेरे संगी-साथी भी आये हैं। सब फाटक पर हैं। राजकुमारी ने केवल मुझे ही राजमहल में आने का निमन्त्रण दिया था।

राजा--(हँसकर) राजमहल में अकेले आते तुम डरे नहीं ?

जयंत—डर किस बात का ? महाराज !—श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न पुरुष या स्त्री चाहे कोई भी हो, विश्वासघाती नहीं होते।

राजा—(**प्रसन्न होकर**) ठीक है, राजकुमारी ने वीर और बुद्धिमान् पुरुष को वरण किया है। (**अपने सभासदों से**) सबको अन्दर लाकर सत्कारपूर्वक बैठाओ।

(**सभासद जाते हैं, और जयंत के साथियों को प्रेमपूर्वक लाकर शामियाने के नीचे बैठाते हैं। रानी और पद्मावती का प्रवेश। जयंत उठकर रानी को प्रणाम करता है।**)

रानी—पुत्र जयंत ! अमर कीर्ति के अधिकारी बनो।

राजा और रानी—(**दोनों खड़े होकर**) भाग्यवान् जयंत ! (**पद्मावती का हाथ आगे करके**) इस राजवंश की सबसे अमूल्य मणि इस पद्मावती को हम तुम्हें समर्पण करते हैं। इसे ग्रहण करो।

(**जयंत पद्मावती का हाथ पकड़ लेता है। बाजे बजते हैं। फूलों की वर्षा होती है। जयजयकार होता है।**)

रानी—मैं इसकी माता हूँ जयंत !—इससे तुम्हारे आदर्श पर मेरी दृष्टि उतनी नहीं, जितनी इसके सुख पर है। मैं विनय करती हूँ कि इसे सुख से रखना।

जयन्त—(**राजा और रानी को फिर प्रणाम करके**) माताजी ! राजकुमारी संसार में दुःख भोगने के लिये नहीं आई है।

राजा—बेटा ! एक तुच्छ भेंट और है।

(**राजा राजमुहर लगा हुआ एक काग़ज जयंत के हाथ में देता है।**)

राजा—मैं सोनपुर का राज्य जयंत और पद्मावती को दीन-दुखियों की सेवा के लिये देता हूँ।

(**जयंत ले लेता है। जयजयकार होता है**)

जयंत—(**पद्मावती से**) महाराज और महारानी के जीवन-काल तक तो राज्य उन्हीं के पास रहना चाहिये।

पद्मावती—वे तो आज ही गरीबों के महल्ले में चले जायँगे।

रानी--**(जयंत से)** पद्मावती ने अपने और तुम्हारे लिये गरीबों के महल्ले में झोपड़े बनवाये हैं। हम दोनों ने भी वहीं रहकर तुम दोनों की सेवा में जीवन बिताने का निश्चय किया है।

(जयन्त की आँखें डबडबा आती हैं। पंडित देवदत्त और कमला का प्रवेश। जयन्त दोनों का चरण-वन्दन करता है। देवदत्त और कमला जयन्त और पद्मावती पर फूल और अक्षत चढ़ाते हैं।)

देवदत्त--पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारा चरित्र इस देश के युवकों के लिये आदर्श हो। **(पद्मावती से)** राजकुमारी! आर्य-कन्यायें तुम्हारी कीर्ति से अपना जीवन अलंकृत करेंगी।

(पद्मावती प्रणाम करती है।)

(मनोहरलाल, कल्याणी और कुसुम का प्रवेश।)

मनोहरलाल—**(जयन्त के पाँव छूकर)** मैं तुम्हारा अपराधी हूँ। पश्चात्ताप की ज्वाला में जल रहा हूँ। मुझे क्षमा करके इस नरक से मेरा उद्धार करो।

जयन्त—आप शान्त होइये। कुसुम ने अपको क्षमा कर दिया है; आपको वह पिता-स्वरूप मानती है; अब आप मेरे भी पिता हैं।

कुसुम—**(कल्याणी की ओर संकेत करके)** जयन्त भइया! और पद्मावती बहन! ये कल्याणी माँ हैं। इन्हें प्रणाम करो।

(जयन्त प्रणाम करता है। पद्मावती भी प्रणाम करती है। कल्याणी उन पर और पद्मावती पर फूल चढ़ाती है।)

जयन्त--कल्याणी माँ! यह सब आप ही की आत्मा का विकास है।

(कल्याणी हर्ष के मारे बोल नहीं सकती।)

जयन्त--**(कुसुम से)** तुम अबतब कहाँ थी, कुसुम?

कुसुम—भइया! मैं पागल हो रही थी। घण्टों से उस कोठरी में खड़ी-खड़ी खिड़की से तुमको देख रही थी। मन को बहुत कहती थी कि जगत् में जैसे और भाई हैं, वैसे जयन्त भी है, पर शिक्षा और ज्ञान

ने भी परे न जाने किस स्थान से तुम्हारे लिये प्रेम की जो एक धारा उमड़ आई थी, मैं उसी में डूबती उतराती थी। भइया! तुम मुझे बहुत प्रेय लग रहे हो। **(कुसुम भाई से लिपट जाती है। जयन्त की आँखें भर आती हैं।)**

जयन्त—कुसुम! तुम्हारी सखी पद्मावती ने तो मेरे साथ दीन-दुखियों की सेवा का व्रत लिया है; तुम क्या करोगी?

कुसुम—मैं कल्याणी माँ के साथ रहूँगी। कल्याणी माँ तो बहुत पहले से गरीबों के महल्ले में जा बसी हैं। अब पिताजी भी वहीं रहते हैं। पिताजी का तो अब सारा समय गरीबों की सेवा में जाता है। वे हर एक गरीब को 'नारायण' कहकर पुकारते हैं, इससे उनका नाम ही 'नारायण बाबा' हो गया है।

(जयन्त मनोहरलाल की ओर हर्ष से देखता है।)

जयन्त—और अशोक?

कुसुम—वह एक गरीब कन्या के साथ वैवाहिक जीवन बिताना चाहता था। कल्याणी माँ ने गौरी के साथ उसका सम्बन्ध निश्चय कर दिया है। सब लोग गरीब के महल्ले में साथ ही रहेंगे।

जयन्त—गौरी कहाँ है?

कुसुम—वह विजय नाम से तुम्हारे दल में है। यह खड़ी है।

(दिखाती है। जयन्त आश्चर्य करता है।)

कुसुम—एक समाचार और है।

जयन्त—वह क्या?

कुसुम—पिताजी ने उस गरीब युवती दासी के लिए जीवन भर के निर्वाह की व्यवस्था कर दी है। वह भी हमारे साथ रहेगी।

जयन्त—इस समाचार से मुझे अधिक प्रसन्नता हुई है। मुझे उसकी चिन्ता थी।

कल्याणी—भगवती कुसुम ने स्त्रीजाति की सेवा के लिये आजन्म ब्रह्मचारिणी रहने का व्रत लिया है।

(जयजयकार होता है। जयंत कुसुम की ओर श्रद्धा से देखता है। कुसुम का मुख गम्भीर रहता है।)

जयन्त—(**राजकुमारी से**) बन्दियों के सम्बन्ध में तुम्हारी क्या राय है ?

राजकुमारी—(**राजा से**) पिताजी ! आप राज्य के कुल बंदियों को मुक्त कर देने की आज्ञा दीजिये।

राजा—(**हँसकर**) बेटी ! राज्य के मालिक तो अब तुम दोनों हो; पर उत्सव की पूर्णता तक मैं अपना भी अधिकार मानता हूँ। मैं हुक्म देता हूँ कि राज्य के सब बन्दी छोड़ दिये जायँ, ताकि वे भी इस आनंद में भाग ले सकें।

(जयजयकार और फूलों की वर्षा)

राजकुमारी—(**जयंत से**) पिताजी और माताजी बहुत देर से बैठे हैं।

जयन्त –(**राजा रानी से**) महाराज ! अब और कुछ मेरे योग्य सेवा हो, सो आज्ञा दीजिये।

राजा—(**उठकर, रानी भी साथ उठती है**) कल्याण-मार्ग पर प्रस्थान करने के लिए आज का उत्सव चिर-स्मरणीय हो। आज के हर्ष में सार्वजनिक सहभोज का प्रबन्ध मेरे झोपड़े में किया गया है, अब वहाँ चलना चाहिये।

राजकुमारी—पिताजी ! कन्याओं ने गर्वा नृत्य के साथ एक गान गाने का आयोजन किया है। उसे देख लीजिये।

(राजा, रानी के साथ सब खड़े होकर देखते हैं। सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत समान वयवाली कन्यायें गर्वा नृत्य के साथ 'आओ, आओ मधुर वसन्त' का गान करती हैं। समाप्त होने पर सब राजा के साथ बाहर चले जाते हैं।

(समाप्त)

सम्मतियाँ

(१)

जागरण (काशी)—

नाटक बहुत ही सुन्दर है। गरीबों पर अमीरों के अत्याचार का नग्न-चित्र बड़ा ही रोमांचकारी है। कथावस्तु कल्पित और सामाजिक है। जयन्त, कुसुम, कल्याणी और मनोहरलाल का चरित्र बड़ी खूबी के साथ अंकित किया गया है। जयंत के जीवन पर देवदत्त और उसके गुरु के भावों की बड़ी सुन्दर एवं मिश्रित छाप है। कल्याणी का चरित्र बिल्कुल देवी-सा है। नाटक सुखांत और आदर्शवाद का नमूना है। भाषा सरल और मँजी हुई है। स्थान-स्थान पर सूक्तियाँ और भावात्मक वाक्य भी हैं। गाने भी कम तथा अवसर के उपयुक्त रक्खे गये हैं। दूसरा अङ्क बहुत ही सुन्दर है। इसमें कुसुम और जयंत के विचार तथा जयन्त का भाषण सुन्दर है। घटनाओं का तारतम्य इस प्रकार है कि रोचकता नष्ट होने की संभावना नहीं है।

प्रस्तुत नाटक पाँच दिन में लिखा गया होकर भी (जैसा त्रिपाठीजी ने स्वयं लिखा है) साहित्य और सर्वसाधारण दोनों ही की दृष्टि से अच्छा बन पड़ा है। मंच पर बड़ी सफलता के साथ अभिनीत हो सकता है।

(२)

भारती (लाहौर)—

त्रिपाठीजी उन अनुभवहीन लेखकों में नहीं हैं, जो लोक-रुचि की अवहेलना करते हुए एकांत में नीरव हृत्तंत्री बजाते-बजाते

अनाघ्रात कुसुम की तरह समाप्त हो जाते हैं। वे हिंदी की पुरानी पौध के उन अनुभवी और चतुर लेखकों में अग्रगणी हैं, जो हर युग में जनता की माँग का सजग होकर अनुभव करते हैं, और अपनी हर कृति पर ठोस सफलता प्राप्त करते हैं। 'कविता-कौमुदी' के प्रकाशन से कविता-संग्रह जगत में और 'पथिक' की रचना के द्वारा कथानक खंडकाव्य के क्षेत्र में वे अनुकरणीय नेतृत्व कर चुके हैं।

प्रस्तुत नाटक का कथानक चुनने में कल्पना-कुशल लेखक ने हमारे रंगमञ्च की प्रचलित 'भेड़ियाधसान' वृत्ति का अनुसरण नहीं किया है। उनकी कहानी एक नवीन दिशा की ओर इङ्गित करती है। बाजारू प्रेम-कथाओं के अपनाने के बदले उन्होंने एक ऐसी कहानी की सृष्टि की है, जिसमें उनकी कला के सुपरिचित आधार—दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति—का विकास हुआ है।

त्रिपाठीजी ने गानों की असामयिक भरमार की लोकप्रिय प्रथा का बहिष्कार करके संगीत की दृष्टि से इस नाटक को संयत, सरल और सुन्दर बना दिया है।

नाटक की भाषा आदि से अंत तक सरल है; जो इसके अभिनय की सफलता में काफी सहायक हो सकती है। बीच-बीच में चमत्कृत कर देनेवाली सूक्तियों और हृदय को ऊँचा उठाने-वाले भावों के भी दर्शन होते हैं।

इस नाटक की एक-एक पंक्ति उच्च कोटि के आदर्शवाद के उज्ज्वल प्रकाश में लिखी गई है। अतः हमें आशा है कि, बाजारू नाटक-कंपनियाँ भले ही इसकी उपेक्षा करें, पर चरित्रवान् युवक और युवतियों की मित्र-मंडलियों में इसका पर्याप्त आदर होगा। अभिनय के लिए सुरुचिपूर्ण मौलिक नाटक खोजनेवालों को इससे आशा का संदेश मिलेगा।

(३)

प्रताप (कानपुर)—

चरित्र-चित्रण में लेखक को काफी सफलता मिली है। जयंत और उसकी बहन कुसुम तथा कल्याणी का चित्रण अच्छा किया गया है। पूँजीपतियों के अत्याचारों का शिकार होकर जयंत जैसे साधारण (?) व्यक्ति के हृदय में विद्रोह तथा प्रतिशोध की भावना कैसे जाग्रत होती है और वह डाकू बनकर किस प्रकार अपने समान दलित प्रजा के उद्धार तथा न्याय के लिए लड़ता है, इसका वर्णन बड़ी खूबी के साथ किया गया है। राजकुमारी पद्मावती का हृदय-परिवर्तन तथा न्याय के लिए एक डाकू की चिरसंगिनी बनना साम्यवाद के उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है।

(४)

भारत (प्रयाग)—

प्रस्तुत नाटक में सीधी-सादी भाषा में, हृदय की स्वाभाविक शैली में, लेखक ने गरीबों का जो चित्र इसमें अंकित किया है, वह पत्थर को भी पिघला देनेवाला है। जान पड़ता है, ग्रामगीतों की तरह ही करुण ग्रामीण दृश्यों से भी उन्होंने आत्मीयता जोड़ ली है।

नाटक में अत्याचारों के प्रतिकार के लिए त्रिपाठीजी ने जो साधन प्रदर्शित किये हैं, वे बहुत ही रोमैन्टिक हैं—कोमल होकर भी बहुत कठोर हैं, कठोर होकर भी बहुत कोमल हैं। इसमें महात्मा गाँधी जैसे प्रशान्त हृदय और समुद्र की भाँति उद्दाम-वेग तरुण हृदयों का अद्भुत सामञ्जस्य है।

मानवता के उत्थान में स्त्रियों का सहयोग भी वाञ्छनीय है। त्रिपाठीजी ने दिखलाया है कि राष्ट्र के कल्याण के लिए

स्त्रियों में भी साहस, शौर्य्य और उत्साह सभी पुरुषोचित गुणों के विकास की आवश्यकता है। किन्तु किस पथ से? पाश्चात्य पथ से नहीं, बल्कि भारत के ही प्राचीन पथसे; आर्य-संस्कृति और आर्य-शिक्षा से परिष्कृत और उज्ज्वल होकर। उस समय हमारी देवियाँ स्वतन्त्र होते हुए भी, पाश्चात्य नारियों की तरह सामाजिक अशान्ति का कारण नहीं बनेंगी।

यह नाटक सुखान्त है। इसके छोटे-छोटे दृश्य छायापट के चलचित्रों की भाँति आकर्षक हैं। दर्शकों पर बहुत प्रभाव डालेगा, कहने की आवश्यकता नहीं।

(५)

पंडित किशोरीदास वाजपेयी—

'जयंत' के दर्शन पाकर अत्यन्त आनन्द हुआ। आपको इस दिशा में भी पूर्ण विजय प्राप्त हुई है। मुझे 'जयन्त' बहुत पसन्द पड़ा है। यह स्कूल-कालेजों में भी अभिनय करने योग्य है और अवश्य इसका अभिनय होना चाहिए। खूब रस-परिपाक हुआ है। बधाई!

(६)

बाबू मैथिलीशरण गुप्त—

'जयन्त' के लिए अनेक धन्यवाद। आप तो इच्छामात्र से ही नाटककार हो गये। बहुमुखी प्रतिभा का यही तो लक्षण है। साहित्य के अनेक विभागों में आपका एक विशेष स्थान निश्चित है। ऐसे साहित्यिक के कृपा-पात्र होने के नाते मैं भी अपने को धन्य समझता हूँ।

(७)

युवक (गुजराती—बड़ोदा)—

श्री त्रिपाठी नुं आ प्रथमज नाटक छे। अने घणा सुन्दर ने

संस्कारी रीते लख्या छे आ नाट्य-कृति श्राव्य कर्तां दृश्ये माँ वधारे खीली शके तेम छे। श्री त्रिपाठीजी हवे नाट्यो माँ स्थायी रस केलवबा मथशे तो एमना काव्यो जेवी उतम नाट्य-कृतियो वाचको ने आपी शकशे।

(८)

आचार्य रामदेव (कन्या गुरुकुल, देहरादून)--

मैंने आज प्रातःकाल 'जयन्त' और 'प्रेमलोक' दोनों पढ़ डाले। जयन्त के पढ़ने से तो इतना सिद्ध होता है कि सफल नाटक-कला-विशारद के सब गुण आपके अन्दर निहित थे, थोड़ी-सी उत्तेजना मिली कि वह गुण प्रकाशित हो गये; किन्तु प्रेमलोक में तो आपने कमाल ही कर दिखलाया। नाटक क्या है, उस रूप में क्रियाशील मनोविज्ञान का निचोड़ और धर्म के तत्त्वों का दिग्दर्शन है। भाव गम्भीर हैं, भाषा सरल और सुन्दर है, करुण-रस तो कूट-कूटकर भरा हुआ है, कृत्रिमता और बनावट तो इस पुस्तक में है ही नहीं। ऐसी घटनाओं का वर्णन किया हुआ है कि जो इस विश्व में नित्य प्रति दिखाई पड़ती हैं और जो नाटक-कार ने अपने आप से बढ़ाई हैं, वह भी सहस्रों शिक्षित और भावपूर्ण मनुष्यों के हृदय-मंच पर घटित होती ही रहती हैं, इसलिए अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होतीं और न आश्चर्य-जनक ही बोध होती हैं।

(९)

पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—

'जयन्त' पढ़ लिया। अच्छा है। जो कुछ लिखते हैं, खूब ही लिखते हैं। नाटक में भी आप नाम करेंगे, इसमें संदेह नहीं। बधाई है।

(१०)

सेवा (प्रयाग)—

जयन्त और प्रेमलोक यह दोनों हिन्दी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि और लेखक पं० रामनरेश त्रिपाठी के लिखे मौलिक सामाजिक नाटक हैं। साहित्य के इस क्षेत्र में पंडितजी का यह प्रथम प्रयास है। आशा है कि इनकी समर्थ लेखनी से और भी कई नाटक लिखे जायँगे और साहित्य के इस विभाग को भरा पूरा करेंगे। प्रस्तुत दोनों पुस्तकों की भाषा सरल, सुन्दर तथा मुहावरेदार है। दोनों के विषय भी अत्यंत रोचक, रोमाञ्चकारी और शिक्षाप्रद हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि यह नाटक रंग-मञ्च पर अच्छी तरह खेले जा सकते हैं।

(११)

हिन्दू (मद्रास)—

Srijut Ramanaresa Tripathi whose dramatic work "Prema-Loka" had been noticed by me in a previous issue of the Educational and Literary Supplement of "The Hindu" has now published another entitled "Jayanta" which in the matter of the central plot, language and of the didactic element reveals a sustained effort that would surely enhance its value as a contribution of importance to the stock of contemporary Hindi literature.

Srijut Ramanaresa Tripathi is a prolific writer, and this drama, the composition of which was commenced on the llth. January, was completed

on the 16th. It is not clear if "Premaloka" and "Jayanta" have been actually staged anywhere and I trust lovers of "Hindi" in these parts will endeavour to put them on boards so that their scenic effect may be judged. It seems to me that both "Premaloka" and "Jayanta" reveal excellences and attractions just where they have brushed aside conservative conventionalities.

R. Naga Raja Sarma.